रांगेय राघव

17 जनवरी, 1923 को जन्म, आगरा में। मूल नाम टी० एन० वी० आचार्य (तिरुमल्लै नम्बाकम वीर राघव आचार्य)। कुल से दाक्षिणात्य लेकिन ढाई शतकों से पूर्वज वैर (भरतपुर) के निवासी। शिक्षा आगरा मे। सेंट जॉन्स कॉलेज से 1944 मे स्नातकोत्तर और 1949 मे आगरा विश्वविद्यालय से गुरु गोरखनाथ पर पी-एच० डी०। हिन्दी, अंग्रेजी, ब्रज और संस्कृत पर असाधारण अधिकार।

किशोरावस्था से लेखनारंभ। 19-20 वर्ष की अवस्था मे अकालग्रस्त बंगाल की यात्रा। लौटकर हिन्दी के प्रारंभिक पर अविस्मरणीय रिपोर्ताजों —'तूफानों के बीच'—का सृजन। 23-24 वर्ष की आयु से ही हिन्दी-जगत मे अभूतपूर्व चर्चा के विषय।

साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला, संगीत और इतिहास-पुरातत्व में विशेष रुचि। साहित्य की प्रायः सभी विधाओं मे सिद्धहस्त। मात्र 39 वर्ष की आयु में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रिपोर्ताज के अतिरिक्त आलोचना, सभ्यता व संस्कृति पर शोध और व्याख्या के क्षेत्रों को 150 से भी अधिक मौलिक व अनूदित पुस्तकों से समृद्ध किया। अपनी अद्भुत प्रतिभा, असाधारण ज्ञान और लेखन-क्षमता के लिए सर्वमान्य अद्वितीय लेखक।

संस्कृत रचनाओ का हिन्दी, अंग्रेजी मे अनुवाद। विदेशी साहित्य का हिन्दी मे अनुवाद।

7 मई, 1956 को सुलोचनाजी से विवाह। 8 फरवरी, 1960 को पुत्री सीमन्तिनी का जन्म। अधिकांश जीवन आगरा, वैर और जयपुर में व्यतीत। आजीवन स्वतंत्र लेखन।

हिन्दुस्तानी अकादमी, डालमिया, उत्तर प्रदेश सरकार, राजस्थान साहित्य अकादमी तथा महात्मा गांधी पुरस्कार (मरणोपरांत) सम्मानित। विभिन्न कृतियाँ अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनूदित। लंबी बीमारी के बाद 12 सितम्बर, 1962 को बंबई मे देहांत।

अन्य प्रकाशित काव्य संग्रह : 'अजेय खंडहर', 'पिघलते पत्थर', 'मेधावी', 'राह के दीपक', 'पांचाली', रूपछाया'।

बंधनमुक्ता

रांगेय राघव की कविताएं

सम्पादक
अशोक शास्त्री

अलीक प्रकाशन, जयपुर

बंधनमुक्ता : कविता संग्रह : रांगेय राघव : (BANDHANMUKTA A Collection of Poems by Rangeya Raghava) प्रथम संस्करण : 1987
आवरण चित्र : रांगेय राघव / सर्वाधिकार : डॉ० सुलोचना रांगेय राघव।

मूल्य : पैंतीस रुपये

प्रकाशक
अलीक प्रकाशन
'भूमिका' 2घ 26, जवाहर नगर,
जयपुर-302004

मुख्य वितरक
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता
जयपुर-302003

मुद्रक : शांति मुद्रणालय, दिल्ली-32

प्रिय सुलोचना को सस्नेह
—रांगेय राघव

प्राक्कथन

बंधनमुक्ता अपने सृजन के कोई तीन दशक बाद अब प्रकाशित हो सक रहा है। यों इसकी कुछ कविताएं '83 मे प्रकाशित रांगेय राघव ग्रंथावली मे संकलित की गई थी, कुछ कविताएँ अपने सृजन-काल में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं, किन्तु संकलन के रूप में ये पहली बार पाठकों के सामने आ रही हैं। किसी कवि के किसी काव्य-संग्रह का प्राय: तीन दशक तक अप्रकाशित पड़े रहने के बाद प्रकाशित होना—खासकर तब जब कि उसकी दूसरी विधाओं में लिखी रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित और पुनर्प्रकाशित होती रही हों—शुद्ध सुख का अवसर नही होता; उस 'सुख' पर एक हल्की-सी काली छाया भी पड़ी होती है; कुछ ऐसा ही अवसर यह है।

असल में 1947 के बाद रांगेय राघव का कोई कविता-संग्रह—पांचाली तथा रूपछाया खड काव्यों को छोड़कर—प्रकाशित नही हुआ, यद्यपि कविताएँ वे कमोबेश निरन्तर लिखते रहे। किन्तु उनके काव्य मे जो एक नया दौर आया वह 1956 के आसपास आया। इन दिनों उनके जीवन मे दो बडे परिवर्तन हुए: एक, वे आगरा छोड़कर वैर में रहने लगे, दो, लम्बे समय तक अविवाहित रहने के बाद उन्होंने विवाह किया। सुलोचना जी ने ग्रंथावली मे लिखा भी है कि "हमारे विवाह के बाद उन्होंने कहा था कि बहुत समय से कविता नही लिख पा रहा था, अब फिर फूट पड़ी है। उन दिनों महीनों तक वे कविताएँ लिखते रहे···" इन्हो

कविताओं का संकलन बना—'बंधनमुक्ता'; एकाध कविता, जैसे मातृदाह, अवश्य कुछ बाद की हैं। इस दौर की दूसरी अधिकाश कविताएँ किरणें बुहार लो मे सकलित हुई। कारण जो रहे हो, ये दोनों संग्रह अप्रकाशित ही रहे। इनकी पांडुलिपियो के साथ एक और पाडुलिपि मिलती है—श्यामला शीर्षक से—जिसमें 'बंधनमुक्ता' और 'किरणें बुहार लो' की सभी कविताएँ तीन अन्य कविताओं के साथ सकलित हैं। निश्चय से यह कहना संभव नही कि 'श्यामला' की कविताओं से उन्होने उक्त दोनो सग्रह तैयार किए थे अथवा दोनों को मिलाकर वृहद् सकलन 'श्यामला' तैयार किया था, जो हो, हम 'बंधनमुक्ता' को अलग संग्रह के रूप मे प्रकाशित कर रहे हैं।

इसमे हमने कविताओ का क्रम वही रखा है जो स्वयं कवि ने रखा था। कुछ कविताओं, जैसे लौटने पर माँ नहीं, घर आकर स्मृति में, प्रेम मुटाते जाते हैं, कौन है वह तथा उलट दूं इस चलते हुए चाक को पर शीर्षक नही थे; इन पर दिए शीर्षक सम्पादक के हैं और कहना न होगा कि उनके अनुपयुक्त होने की दिशा में सम्पूर्ण दोष उस ही का माना जाए। यही दो-एक कविताओ के सदर्भ-संकेत दे देना भी अप्रासगिक नही होगा: जैसे, परिचय कवि ने विवाहोपरान्त अपनी पत्नी को लिखकर दी थी, 'मातृदाह' माँ के देहान्त के बाद की मन:स्थिति में लिखी गई थी।

इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि रांगेय राघव का कवि रूप उनके उपन्यासकार और शोधकर्त्ता-चितक के सामने निरन्तर उपेक्षित होता रहा है। ऐसे मे यहाँ उनकी काव्य-यात्रा का सक्षिप्त परिचय देना अनावश्यक नही होगा। रांगेय राघव साहित्य के कुछ पाठको के लिए यह जानकारी शायद नई होगी कि लेखक ने काव्य से ही अपना साहित्य-सृजन प्रारंभ किया था। स्वयं रांगेय राघव ने अपने इस यात्रारभ की याद करते हुए लिखा है,''''चित्रकला का अभ्यास कुछ छूट-सा गया था। 1938 ई० की बात है। तब ही मैंने कविता लिखना प्रारंभ किया था। सांध्य-भ्रमण का व्यसन था। एक दिन रगीन आकाश को देखकर कुछ लिखा था—वह सब खो गया है—और तब ही बहुत संकोच के साथ मन मे स्वीकार किया कि मैं कविता लिख सकता हूं। फिर बहुत लिखा पर बच नहीं सका। 'प्रेरणा कैसे हुई' का पृष्ठ लिखना अत्यन्त दुरूह है। इतना ही कह सकता हूँ कि चित्रो से ही कविता प्रारंभ हुई थी और एक प्रकार की बेचैनी उसका मूल थी" (साहित्य-सदेश, जनवरी-फरवरी '54)। कवि की जो कुछ प्रारंभिक कविताएँ उपलब्ध हैं उनमे प्रमुख है—मेनका शीर्षक की लम्बी कविता, जो उनके

अप्रकाशित संग्रह कामधेनु मे संकलित है।

रांगेय राघव की पहली काव्य-कृति कलकत्ता के विश्वामित्र साप्ताहिक में प्रकाशित हुई थी। स्व०डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के शब्दो मे, "यह एक गीत था जो भेजने के दूसरे ही सप्ताह प्रकाशित हो गया था।'''इसके पश्चात उनकी कितनी ही रचनाएं 'विश्वामित्र' में छपी। विशेषांकों मे तो उन्हे और भी अधिक सजाकर स्थान दिया गया।"

आगे चलकर रांगेय राघव अपने जिन दो प्रबन्ध-काव्यों—अजेय खंडहर ('44) मेधावी ('47)—के लिए तत्कालीन प्रगतिशील आंदोलन मे चर्चित हुए उनसे पूर्व उनको चार लम्बी कविताएँ मिलती हैं, जिन्हे, प्रबन्ध-काव्य की तैयारी के दौर की कविताएँ कहा जा सकता है। ये चारों मृत्युञ्जीत ('40), नर्त्तकी का अतिथि ('41), घाटी के फूल ('41-42) और आलोकिनी ('43) भी 'कामधेनु में उपलब्ध हैं 'अजेय खंडहर' कवि की पहली पुस्तकाकार प्रकाशित काव्य कृति है जो स्टालिनग्राद की लड़ाई पर आधारित है। 'मेधावी' प्रबन्ध काव्य हिन्दी में अपनी तरह का अनूठा प्रबन्ध है। हिन्दुस्तानी अकादमी से पुरस्कृत इस प्रबन्ध मे कवि ने किसी प्रचलित कथा को आधार न बनाकर इतिहास और गति को नायक नायिका बनाकर सृष्टि-क्रम पर अपना चिंतन प्रकट किया है।

1942 मे अकालग्रस्त बंगाल की यात्रा ने युवा रांगेय राघव पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। लौटकर उन्होने आगरा के जन नाट्य मंच के लिए अनेक गीतों की रचना की जिन्हें मंच का कोरस दल गाते हुए घूमता था तथा अकाल पीड़ितो के लिए मदद इकट्ठी करता था। बाद मे भी उन्होंने ऐसी बहुत-सी रचनाएँ लिखी। इसी तरह की आन्दोलनात्मक कविताओं और गीतों मे से अधिकांश उनके कविता-संग्रह पिघलते पत्थर ('46) में सकलित हैं; कुछ राह के दीपक ('48) मे। 'राह के दीपक' के वाद रांगेय राघव का कोई कविता-संग्रह प्रकाशित नही हुआ। यों देखें तो उनकी फुटकर कविताओ का कोई भी संकलन गत अड़तीस वर्षों में नही छपा। हालाँकि इस बीच कवि ने कई संग्रह तैयार किए, जिनमे से तीन को तो एक प्रकाशक ने कवि के जीवन-काल में ही खो दिया था। जाहिर है, इन संग्रहों की कुछ कविताओं के सन्दर्भ मे कुछ भी कहना संभव नही। हो सकताहै कि इन संग्रहों की कुछ कविताएँ 'वंधनमुक्ता', 'किरणें बुहार लो' आदि मे ले ली गई हों। या हो सकता है इनमें से बहुत-सी वे हों जो आज इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं मे बिखरी पड़ी हैं।

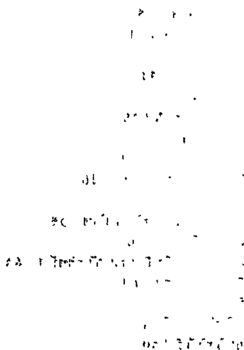
रांगेय राघव ने जिस तरह अपने वैविध्यपूर्ण काव्य-सृजन से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया उसी प्रकार उन्होंने अनुवाद के जरिए भी हिन्दी को समुन्नत

में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने संस्कृत से हिन्दी, अंग्रेजी से हिन्दी संस्कृत से अंग्रेजी मे ढेरो अनुवाद किया। संस्कृत से हिन्दी में ऋग्वेद की ओं के अलावा उन्होंने ऋतुसंहार (सचित्र), मेघदूत (सचित्र), कुमार संभव, गोविन्द (सचित्र) और भामिनी विलास (सचित्र) का अनुवाद किया। 'गीत न्द' और 'कुमारसंभव' पांडुलिपियां दुर्भाग्यवश एक प्रेस मे आग लग जाने ट हो गयी; कुछ चित्र अवश्य बचे थे जो 'भामिनी विलास' में शामिल कर गए। 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' का उन्होंने अंग्रेजी में भी अनुवाद किया 'वाल्मीकि रामायण' का हिन्दी में पद्यानुवाद प्रारंभ किया था, किन्तु इसके र्ग ही लिख पाए। अंग्रेजी से हिन्दी मे जो काव्यानुवाद उन्होंने किया उसमें महत्त्वपूर्ण हैं 'संसार के महान कवियों का काव्यालोक सीरीज' की नौ कें। इनमें प्रारंभ में कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तृत भूमिकाएँ हैं फिर चुनी हुई रचनाएँ। गेटे, शेक्सपीयर, मायकोवस्की, टेनीसन, होमर, र, युरिपिडीज, राबर्ट स्टीवेन्सन तथा लाओत्स पर केन्द्रित ये पुस्तकें कोई वर्षों से एक प्रकाशक महोदय की अलमारी में बन्द हैं, न वे छापते हैं न वापस हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में बायरन की लम्बी कविता प्रिजनर ऑफ i का हिन्दी अनुवाद भी उल्लेखनीय है। अनुवाद के क्रम मे एक और अपनी की रचना है—पूर्णकलश। इसमे रागेय राघव ने चीनी, मिस्त्री, अंग्रेजी, ी, हिब्रू, फारसी आदि की ऐसी कविताओं का हिन्दी अनुवाद (अंग्रेजी से) त किया है जिनकी गूज वेद और उपनिषद के अंशों से मेल खाती हो। पुस्तक क पृष्ठ पर अमुक भाषा की एक कविता दी गई है दूसरे पर वेद या उपनि- एक अश।

'बंधनमुक्ता' के बाद हम चाहेंगे कि 'कामधेनु' और 'किरणें बुहार लो' भी र प्रकाशित हों। रांगेय राघव की इधर-उधर बिखरी कविताएँ संकलित की 'तो उनसे भी दो-एक संग्रह तैयार हो सकते हैं। कवि की अधूरी वृहद रचनाएँ, मे भीष्म के आत्मसंघर्ष पर आधारित काव्य उत्तरायण के अलावा महाविजय वी आदि प्रमुख हैं, भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो सकें तो अध्येताओं के लिए चय ही लाभकर होगा। इति।

—अशोक शास्त्री

क्रम



बंधनमुक्ता

विंदु और रेखा

"विंदु ! तुम हो एक, मैं हूं किंतु रेखा,
अंत मेरा तो किसी ने भी न देखा।"

"तुम चलो रेखा !
अनेकों का मिलन बन,
पर इकाई विंदु की ही
प्राप्त हर क्षण।"

"विंदु ! तुम तो स्थिर बने हो, स्थाणु हो तुम,
व्याप्ति मैं हूं और बस अलगाव हो तुम।"

"तुम मुझी में से निकल
मुझमें मिलोगी,
मैं सदा सापेक्ष हूं,
यह तो कहोगी।"

"विंदु ! मैं हूं प्यार का आवेश प्यारा,
एक मैं ही तो लहर हूं प्राण - धारा!"

"और मैं ही हूं
तुम्हारा वह किनारा
आज तक जिसने तुम्हें
निशि-दिन पुकारा।"

"विंदु ! तुम समझो न मुझको बंदिनी हूं,
मुक्ति की मैं लालसा सुख रंगिनी हूं।"

"जो बनो, मैं तो तुम्हारे
साथ हारा,
परिचलन तुम,
किंतु मैं हूँ मूल कारा।"

"विंदु! तुम हो दीनता, वैभव नहीं हो,
वंचना हो तुम, नया जीवन नहीं हो।"

"जान लो अपने हृदय में
यह तुम्हारा
लीन होगा मुझी में
विस्तार सारा।"

"केन्द्र मैं हूँ और तुम भी रूप मेरा,
सृष्टि छवि निर्माण करती रूप प्रेरा।
विंदु हूँ, आनंद हूँ, आनंद था निर्द्वन्द्व पूरा,
तुम खिंची रेखा! कि मैं होऊँ अधूरा?
आज भी अतृप्तियाँ
सारे जगत् की
हैं, कि होती है उपेक्षा
मन महत् की!"

स्वागत : नूतन वर्ष

पुलकित अवनी, पुलकित अंबर,
आओ नवरस गाओ !
इस क्षण अपने काम छोड़कर
आओ हिलमिल गाओ !

आया रे नव वर्ष मुदित मन,
स्वागत हे मंगलमय हर क्षण,
किन-किन कंकण, घन-घन नूपुर,
द्रिम-द्रिम राग उठाओ !

माँ धरती का थाल सुनहला।
क्षितिजों का परिधान रुपहला।
त्रिभुवन की आरती सजाकर
शाश्वत गीत गुँजाओ !

जड़ हो जाने दो विषाद को
हँस कर गाने दो सुहाग को,
उठा शिशिर की श्वेत पताका
फर-फर-फर फहराओ !

काल व्याल पर बजे बाँसुरी
फिर मधुवन में मचे फाग री,
दीपशिखा पीले फागुन की
माटी में सुलगाओ !

जला ग्रीष्म को दो कपूर सम,
भरो गंध अगजग में निरुपम,
तप - तप कर कुंदन बनने की
अमर कला सिखलाओ!

घन-घन दिग्‌दिगंत में रव भर,
तुम विद्युत्‌-सा साहस भर कर,
वर्षा की खरतर धारों में
हरियाली भर लाओ!

शतदल - हासिनि वाणी वंदन
करके, दूर मिटाओ क्रंदन,
शरद - ज्योत्स्ना का दर्पण ले
रूप - अरूप सजाओ!

हेमंती वयार से बह कर
उठो वेदनाएँ सह-सह कर,
आने वाले नये अतिथि का
अभिनंदन कर गाओ!

जीवन-जीवन की पुकार भर
मृत्युंजय बन जाओ।
पुलकित अवनी, पुलकित अंबर,
आओ नवरस गाओ!

परिचय

प्राण ! मेरी बात सुन लो !
आह ! कितनी आस थी, कितनी हृदय में चाहना थी,
बात करने की न जाने लालसा कितनी भरी थी।
किंतु देखा पास से तब कुछ नहीं बाकी रहा था,
संचिता रसधार सारी प्राण में आकर गिरी थी।

नयन यों ही रह गये
भूले ठगे से नमित होकर,
लाज पलकों पर मचल कर
रह गई मुस्कान ढोकर !

सिंधु का गर्जन सुना मरुभूमि ने नेपथ्य में से,
दाह से बोली : "मुझे दो बूँद ही मिल जायें यदि, तो
मैं सफल कृतकार्य समझूँ जन्म के इस भार को भी।
कब तलक जलती रहूँ यों यातना में बद्ध, बोलो !
सिंधु मचले, शून्य में से यह निमंत्रण दूर से सुन,
तब हवाएं फरफराईं पीपलों की भाँति सर-सर,
भर निविड़ में रोर लहरें आक्षितिज कंपन उठातीं
बढ़ चलीं उसकी बुझाने प्यास, अपने को रिझातीं !
किंतु उस मरुभूमि की सीमा छुई जब,
सिंधु सारा उठ गया तब भाफ बन कर;
और तब मरुभूमि ने ऊपर निहारा,
शून्य नीले व्योम के व्यापक हृदय पर
मेघ बनकर झलक आया था फफोला !

तब हँसी वह रेत भीषण अग्नि-लपटें सरसराइ,
दाह ने तब दाह में ही यातना अपनी जगाई,
प्यास को तब प्यास ने ही तृप्ति की गाथा सुनाई,
और यों परिचय हुआ था आत्म के प्रथमाश्रु का ही !
पर गए दिन बीत, मेरी प्रेयसी-आशा न हारी।
और अब परिचय हुआ है प्राण तुमसे,
कल्पना के पंख पर सुरधनु पिघलते,
कलरवों से कान सारे भर गए हैं
तितलियों के मृदुल गातों में नवेली रंजनाएँ गमगमाती,
माधवी की चल लताएँ झूमती हैं,
गंध से आकाश सारा मुग्ध-सा है;
एक जूड़े पर सजाई तारिकाएँ मोगरे के फूल-सी हैं,
और सारी रात है अब तो सुहागिन !
प्राण, मेरी बात सुन लो !

[2]

एक अंजलि में अगन वरदान भर कर
देवता जब आयु का वह पास आया,
देह की माटी सजी सी देख मेरी
वह बड़े ही व्यंग से तब मुस्कराया !
किंतु मैंने
शीश तब अपना झुकाकर
धूलि अपने-आप डाली शीश पर ही,
देवता वह आयु का तब मौन होकर
देखता ही रह गया मुझको अवश ही !
प्राण ! यह तुमको बता दूँ
जिंदगी में धार की चिंता न करना,
याद रखना, बूँद हैं हम,
इसलिए ही मुक्त रहना !
भू गगन है गेह अपना सकल, फैला,

सफल है जीवन्त अपना;
इसलिए ही
कर्म बनता है हमारा नैश सपना !
आज तब ही मैं तुम्हें यह
बात अपनी चाहता हूँ
सुनाना;
व्यथा के तूणीर में शर
वासना के भर अनेकों,
दाह के धनु पर चढ़ा कर तृषा की डोरी कसी-सी,
अहं का व्याकुल अहेरी घूमता है भव-विपिन में,
किंतु वह तो वधिक है, वह प्यार क्या जाने जगत में ?
सृष्टि के माधुर्य की छवि जानने को
इस अहं के अहेरी को बाँधना है,
हाँ, हमें संकोच सारे क्रम-नियम से समझ, उनको लाँघना है।
हो न आतुरता कहीं भी,
क्योंकि अपना आदि अपने क्षीण लघु का आदि तो है,
किंतु वैसे एक लम्बी धार का वह अग ही है,
यह समझ लो चंद्रमा को देख जैसे सिंधु में है ज्वार आता,
उस तरह ही सिंधु-सत्ता-प्रवह में हम हैं अवस्थित।
चंद्रमा है नित्य आता इसलिए उससे न रूठो,
वह बड़ी सहकर तपिश सच चाँदनी देता तुम्हें है,
इसलिए उल्लास के वातायनों से मान के पर्दे उठा दो,
प्राण, मेरी बात सुन लो !

[3]

है वही धरती, वही आकाश भी है,
किंतु इनमें एक मुझको दीखता है अब नयापन।
प्राण ! पहले रत्नगर्भा थी धरा यह,
किंतु अब तो अन्न-वाहिनी दीखती है,
आह ! पहले यह मरण का परिचलन थी

किंतु अब इसमें मुझे देती सुनाई
स्पंदना नित नव्य जीवन की सलोनी !
और पहले शून्य था जो व्योम, अब वह
दीखता है प्यास से आकुल हृदय-सा,
बिजलियों की मार से जो था दहकता,
इन्द्रधनुषों की किलोलों से भरा-सा दीखता है !
यह नहीं है बात मेरी भावना की,
प्राण ! यह तो चेतना है वासना की,
लो सुनो यह रागिनी पाराधना की,
स्वयं बलि लगती यहां है साधना की,
तन्मया है भक्ति जब नीराजना की,
तब कहां हो ठौर, बोलो याचना की ?
घिर गई है अब परिधि भी यातना की,
क्योंकि उभरी गंध है यह चाहना की ।
क्या चलाऊँ डांड़ अब मैं धारणा की,
धार ने ही कूल की अवतारणा की,
हर लहर है शक्ति जब इस कामना की,
क्यों न विजयिनी प्यास हो इस पारणा की !
चाहना अमरत्व की मुझको नहीं है,
जानता हूँ एक दिन हम-तुम मिटेंगे,
किंतु डरना मृत्यु से किस हेतु बोलो,
जब जियेंगे हम विहँस तब तक जियेंगे !
यश नहीं है तृप्ति मानव की कभी भी,
धन नहीं है सांत्वना सूने हृदय की,
पतंगों की प्यास में सच दर्द तो है,
सार्थकता दीप की उसमें कहां है ?
कुएँ की गहराइयों में नीर तो है,
किंतु श्रम की डोर है उसकी सफलता !
त्रिभुवनों में एक ही है शक्ति प्रेयसि !
श्रम, निरन्तर श्रम हमारी चिर-नियति है ।

और यह है नियति अपनी साधना ही।
जानता हूँ तुम कभी पीछे नहीं हो,
सहचरी ! आओ धरो अपना चरण तुम,
जय तुम्हारे नूपुरों में बँध गई है !
स्वस्थ जीवन की इकाई में नहीं था,
पूर्णता है मिलन में अपने सुहागिन,
वीर करुणा की गहनता जानते हैं,
प्राण, मेरी बात सुन लो !

[4]

सुन रही हो, कह रहा है क्या पपीहा,
रात की छाती विदारे जो तड़पता ?
इस सुरीले शब्द में भरकर हृदय की
कसमसाहट को उँडेले दे रहा है,
दे रहा है वह मुझे कैसे उलहने ! कह रहा है : "मीत मेरे !
प्यार की यह तृप्ति क्या थिर बन सकेगी ?
क्यों हृदय को तू गँवाकर भूल बैठा ?"
जलन की घड़ियाँ बड़ी हैं, किंतु उनमें व्यर्थता कोई नहीं है,
प्राण ! मैं कैसे उसे समझा सकूँ अब ?
वासना की टीस से ऊपर सदा है वासना का चिर-समर्पण,
इसलिए निर्भीक हूँ मैं, क्योंकि मेरी निरति अब कोई नहीं है,
दाह केवल जो कि फिर मुझको रुलाए !
लो तुम्हें अवलोक अपने पंख खोले आ गया है मोर छत पर,
रीझ मत जाना कहीं चितचोर इसको जानकर तुम !
है बहुत चालाक यह देवर तुम्हारा,
मस्त रहता है, किसी के काम यह करता नहीं है,
रात को चुन कहीं फुनगी सघन तरु की
पंख लटका बैठकर सोता सलोना।
और जब उन्माद भरता क्वाँरपन का, रोर से नभ

देख तो लो, यह सजल आँखें लिए है,
देखता किस भाँति तुमको !
ढीठ है, इसका बुरा मत मानना तुम।
जन्म से ही रूप का यह बावला है,
इसलिए इस भाँति तुमको देखता है !
हरा आँचल धीरता से जो हिलाती,
देखती जामुन तुम्हें मनुहार भर कर,
चाहती है बैठ जाओ पास इसके,
और इसकी सखी कोयल के सुनो दो-एक गाने;
दूर झीलों के किनारे
घूम-फिर कर अभी आए
श्वेत पंखों के चपल पक्षी यहाँ जो,
देखते हैं झुका अपनी श्वेत-ग्रीवा,
और पीली चोंच से फिर पंख अपने खोंचते हैं।
यह सभी हैं अतिथि इनका क्या भरोसा !
एक जामुन है पड़ोसिन,
इसलिए परिचय करो बस एक इससे;
काल की नागिन न इसको हरा सकती,
क्योंकि यह है बिजलियों की मित्र !
यह छबीला आम्र इसको छेड़ता है,
बड़ी बौरें ताम्र की है यह सजाता,
गंध बगरा कर इसे है यों रिझाता।
पलक खोले देखती है यह इसे जब,
बोल उठते फरफराते चपल तोते।
और फिर ऐसी पड़ोसिन है कि इसके
पेट में पचती नहीं है बात कोई !
तनिक बहता चपल जल बरसात का जब,
विजन गिरि से वह यहाँ आकर पहुँचता,
काफिले-सा उतर चढ़ता,
उगल देती है अजानी बात यह भी।
क्या कहूँ इसकी, मगर फिर भी कहूँगा,

है हृदय इसका सरल ही,
इसलिए इससे निभानी ही पड़ेगी !
उधर देखो तालियाँ चंचल बजाते,
खेलते हैं वहाँ नींबू, लदे फूलों से खड़े है,
अभी छोटे हैं तभी यों दीखते हैं,
हैं न नाटे अधिक वैसे,
वहँभारों को बिछाए बैठते हैं मोर गर्मी में यहाँ पर
छाँह गहरी देखकर इनके चरण में पेट धरती से लगाकर।
देखना बरसात में जब
बिजलियों की कटारे चमका जलद नभ में लड़ेंगे,
अरे घुटनों तक खड़ ये वारि में तब
बालकों-से तुम्हे विहँस रिझा उठेंगे,
ये तुम्हारे भानजे हैं !
सकल जीवन ग्रंथ सा है
नित्य अक्षर काल इसमें लिख रहा है,
और हम सार्थक सबल ध्वनि बन
दिशाओं में निरंतर गूँजते हैं।
हम हृदय की बात के अवकाश भी है,
हम प्रलय की रात के उल्लास भी हैं,
हम उपेक्षा के नही आधार बनकर रह सकेंगे इस धरा पर,
हम सदा ही नव्यता के प्यार बन करके जियेंगे चेतना भर।
अकह माया की न शृंखल घेर यह हमको सकेगी;
यह वसंती वायु लिपटी चल रही है अंग-अंगों से सिहरती,
रागिणी इसको सुनातीं टोलियाँ है झूमती-सी
मस्त भौंरों की पुलक कर, क्योंकि कुसुमों की उठाकर
प्यालियों को, मदन मोहक गंधवाह पराग यों
बिखरा रहा है।
बैंगनी कचनार पर सौंदर्य कैसा झूल आया,
मखमली-सी तितलियाँ हैं फरफरातीं।
प्राण ! ठहरो, एक क्षण देखो गगन को,
सकल मधु है व्यक्त अपना प्यार ही तो,

वेदना इसके नहीं है पास आती,
वेणु में से नाद-सी यह रूप की ऋतु,
उमड़ती है सृष्टि यौवन से हुमकती !
जानती हो चैन की ये कोंपलें ले,
क्यों सजाये आ गए हैं तरु सलोने ?
रेशमी अलकें झुलाये
मुस्कराने लग गई हैं क्यों लताएँ ?
नील नभ में क्यों सुनहली कपिश संध्या झाँकती है,
क्यों सिमट आलोक सारा तलैया में
चमकता है स्निग्ध दर्पण-सा उजेला ?
प्राण ! यह बारात है इस यक्ष की ही !
दूर तक देखो कि नीले पर्वतों पर
धुंध-सी छाई हुई थी जो कि कल तक,
आज उनके शीश पर रंगीन बादल पाग से बनकर बँधे हैं !
तरुण-गूजर से गगन के क्षितिज-पथ में दीखता है
डूबता रवि, बँधा जैसे शुभ्र चाँदी का सलोना एक लंगर।
यह सघन हरियालियाँ पहचान तो लो,
मरकतों की ढेरियाँ मांसल लगाये
जो खड़ी है पूर्व में खिरनी यहाँ पर
है ननद देखो तुम्हारी,
भर गया आँचल बड़े उल्लास से है,
बहुत बाँधीं इन्द्रधनुषों की सलोनी राखियाँ
इसने प्रिये ! इस हाथ पर।
क्या बताऊँ यह सुहागिन है लजीली,
किंतु मेरा पवन-जीजा अति चपल है।
ले घुमड़ती हूक मन में इसलिए जो
स्नेह से यह देख तुमको मुस्कराई,
दे रही आशीष तुमको :
तुम रहो सुख से, न तुमको दुःख होवे !
और यह जो गगन तक सिर को उठाये
क्षितिज जैसी बाँह फैलाये खड़ा है,

पकड़ लीं जिसने सहस्रों भुजा अपनी
गाड़कर पृथ्वी, सबल पौरुष दिखा कर,
छाँह में जिसकी सहस्रों पक्षियों का मधुर कलरव गूँजता है,
भीम बरगद है तुम्हारा जेठ, इसको सिर झुकाओ।
बहुत इसकी छाँह में मैंने रचे हैं गीत निर्भय,
पांथ इसको स्नेह से हैं याद करते मंजिलों पर पहुँच अपनी,
व्योम के तूफ़ान जब हैं दीख पड़ते, रोष से यह फड़कता है,
घास तक इसके चरण पर शरण पाकर आँधियों को
टोकती है,
यह न कुछ प्रतिदान तुमसे माँगता है।

[5]

मृगनयनि ! गंभीर-सी क्यों दीखती हो ?
कौन मौन रहस्य मन में डोलता है ?
मुस्कराहट होंठ पर जब काँपती है,
क्यों न मन अपने प्रलय को खोलता है ?
है नया घर, क्या अजाना है यहाँ सब ?
इसलिए घर की अभी सुधि आ रही है ?
क्या नहीं विश्वास होता है अभी भी ?
क्या न मन से मन अभी भी बोलता है ?
यह रजत घन जो कि नभ में सरकते हैं,
सीपियाँ जैसे निकालीं सिंधु में से
तिमिर-मछुओं ने किनारे पर पटक दीं,
और संध्या-तारिका लोभिन अकेली
एक कन्या-सी इन्हें है देखती यों टुकुर कैसी।
प्राण ! जीवन संतरण का खेल है, यह जान लो तुम !
दाह केवल सांत्वना है, सत्य केवल यातना है।
हो मिलन कोई यहाँ पर
दुःख का तो अंत जग में प्रिय यहाँ होता नहीं है।
एक की सापेक्षता ही नव्य पहलू है जगाती,

और यों ही नित्य हमको वेदना का भार मिलता !
एक का अस्तित्व कितने श्रम-निरत के बाद होता,
किंतु बनने के अनंतर ध्वंस उसका हाथ गहता,
और यों उसका निरंतर क्षय यहां है सत्य बनता।
एक ही है सत्य बनता, जानता हूँ
प्यार जग में जब मिलन का रूप धरता,
एक वह आवेश ही है,
हैं बदलते भाव के स्तर, सब बदलते हैं यहां पर।
इसलिए शाश्वत समझना तुम न कोई क्षण यहां पर,
है यहां प्रतिक्षण स्वयं में व्यक्त पूरा,
जो कि औरों से मिला रहता अधूरा,
यों कसकते वक्ष की चिनगारियां बुझती नहीं हैं,
प्यास बूंदों की मचलती धार में बुझती नहीं है।
यों समझ लो जिंदगी है यह चितेरी,
रंग भरती देह-पट पर और बचपन या जवानी
या बुढ़ापा हैं झलकते,
मौत के पंजे सभी पर काल का पानी छिड़ककर
हैं सभी बदरंग करते !
फिर भला उत्साह कैसा, फिर भला वरदान कैसा ?
कौन हत्या को कहेगा प्रिय यहाँ बलिदान ऐसा ?
इन सभी मजबूरियों में हम यहाँ खुशियाँ मनाते जा रहे हैं !
क्या व्यथाओं की नियम अनुभूतियों की जानकर सारी
विवशता,
हम उन्हें फिर और गहरा मान मन में यों डरें,
महसूस करने हर्ष के छल में भुलावा दे रहे हैं ?
क्या कहीं हम वेदना के रोग के सच हो गए आदी बहुत हैं ?
जो कि उसका अब इलाज निहारकर हम कांपते हैं ?
क्या उसी में हम स्वयं को देखते जीवित जगत में ?
क्या सफल सत्ता उसी के विशद अंचल में छिपी है ?
तुम न कहना : बोलता है व्यथित मेरा !
विश्व में पलतीं अनेकों वेदनाएँ,

लड़ रहीं जिनसे निरंतर चेतनाएँ,
कर्म-रत है भूख मानव की निरंतर,
श्रम यहाँ पर कर रहा है भीम संगर !
हाँ सुनो, मैं कह रहा हूँ, स्वयं मैं भी
इस समस्त प्रसार में अति व्यस्त होकर,
आत्म को अपने बना कर खील-जैसा
इस समस्तीकरण के साम्राज्यवादी विजेता पर
भूल अपने आपको गा-गा रहा था फेंक यों ही,
किंतु अब मैं देखता हूँ—वह नहीं है हल कि मेरा
लय नहीं हो और सत्ता भी नहीं हो,
द्वन्द्व में लटका रहूँ, फिर भी अहं हो !
प्राण, मेरी बात सुन लो !

[6]

मैं पुरुष हूँ, और मुझमें वासना है,
वासना अतृप्ति बनकर आज तक तो शक्ति ही मेरी रही है,
मैं शिशिर की रात आधी बीतने पर,
दीप की लौ-सी जगा कर आँख में ही,
मन उजागर आप करता ही रहा हूँ कर्म-उद्यत।
मैं वसंत-कुमार का साथी बना-सा
काननों औ' उपवनों में डोलता था,
और भौरों की कसम दे-दे यहाँ पर,
मुग्ध कलियों को जगाता घूमता था।
धूमहीना ग्रीष्मतप्त कठोर का कर
थाम कर अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ,
ज्वाल-सी नभ तक उठाता हँस रहा था।
अहह प्रावृट् की प्रचंड निनाद करती वज्रस्वन से
विस्फुरित जलधार पकड़े चातकों-सा उड़ रहा था,
औ' शरद की कमसिनी मुस्कान छूकर,
चाँदनी की प्यालियाँ पी-पी यहाँ लुढ़का रहा था,

हृदय के प्रतिशोध को आँसू बहाकर धो न पाया,
मैं किसी के प्यार का प्यासा अभी तक भर न पाया !
मैं किसी विश्वास की आशा लिए अंगार पर चल,
धूम की बनकर निराशा भी न नभ में घुमड़ पाया।
किंतु फिर भी मैं न हारा, क्योंकि मैं मानव सजग था,
लोक-धर्म प्रवृत्त होकर भूलना मैं चाहता था प्राण ! निज को,
क्योंकि इतना सत्य समझा एक मैंने,
रागिणी कोई नहीं जो गीत से है विलग होती,
अलख तन्मयता स्वयं अनुभूति होती।
मैं रहूँ या मैं जियूँ कोई नहीं है भेद इसमें,
ज्योति का वंदन करूँ या तिमिर की आराधना मैं,
खेल इस दिन-रात का मेरा नहीं है,
खेल में हूँ, भाग्य मैं हूँ, यह अहं है जो कि इनको
समझने की बुद्धि की मैं पा रहा अनुभूति-सी यों !
अतः मेरा दर्प मेरी दीनता है,
अतः मेरी दीनता ही हार मेरी।
क्यों न मैं निज को भुला दूँ,
जिस तरह अश्वत्थ के तल बैठ गौतम ने हृदय को था भुलाया,
जिस तरह से उतर पर्वत से मुहम्मद ने समझ ली
थी खुदी की वह हदें ही खुदा अपना !
किंतु वह सब भाफ थी, जो उड़ गई है,
वर्ग के संघर्ष के कटु सत्य-सी यह चेतना ही जग उठी थी,
भूमि के ही नरक-स्वर्ग बुला रहे थे
और लड़ने चल दिया मैं, और लड़ता ही रहूँगा।
किंतु मानव है न कोई बंध, जो बँध जाय कुछ ही वाक्य में,
जानता हूँ यदपि हम हैं दीनतम इस सृष्टि के व्यापक प्रवह में,
इस सतत गति में हृदय को जानने को आज मैंने
आँख अपनी यह उठाकर प्राण है तुमको विलोका !
अहे नारी ! मृत्यु ही है चरम अपना सत्य,
उसी के हम हैं निरंतर गत्य !
तुम नहीं हो एक माध्यम-मात्र मेरी,

किंतु सच है अंत भी मेरी नहीं हो।
तुम स्वतन्त्र यहाँ कि हूँ जैसे स्वयं मैं,
इसलिए सम्मान आपस का करेंगे !
स्नेह है कर्त्तव्य जग में और वह निष्ठुर सदा है,
कर्म में पलती मनुज की प्रेरणा पथ की सदा है।
यों न जाने मैं बहुत जिज्ञासु हूँ, अनजान भी हूँ,
किंतु क्या उसके लिए तुम हो नहीं अपनी विधाता !
तो चलो, इस पंथ पर हम साथ अपने पग बढ़ायें,
जिंदगी की राह पर हम कर्म की ये साधनाएँ
दीप-सी रह-रह जगाएँ !
किंतु हम जानें हृदय में यह सदा ही :
एक तुम हो, एक मैं हूँ,
साथ रहकर, एक होकर, एक हम फिर भी नहीं है !
मृत्यु के हैं दीन पंथी,
किंतु जब तक श्वास है इस जिंदगी के एक संगी !
प्यार तो अनुभूति-भर है और सब है तत्त्व-नर्त्तन,
पर न भूलें हम कि छाया देह का है लोक क्रंदन !
स्नेह यह छलना नहीं हो,
देखना ऊँचा हिमालय धूलि का कण ही नहीं हो,
बिजलियों को बाँध नभ से दीप तो लेंगे जला हम,
किंतु मन की अधकारा के बनेंगे प्रभु कहाँ हम ?
किस तरह अपनी जलन की यह कहानी हम सुनाएँ,
या कि अपनी वेदना की भारिला यह वासनाएँ,
भूलने के हेतु ही हम अश्रु भरकर मुस्कराएँ,
प्राण, मेरी बात सुन लो !

[7]

लो बहुत परिचय हुआ, मुझको न कहना और बाकी,
भर गई है अक्षरों से जिंदगी की एक पाँती,
अब चलो, दृढ़ बन धरो तुम वीरता से इस चरण को।

पंथ काँपेगा हमारे भार से,
व्योम गूँजेगा हमारे प्यार से !
देखती हो लोक का यह नरक सारा,
भूख-प्यासा-अधीर दुख का सर्वहारा उठ रहा है,
उठ रहा है ज्यों ग्रहण के बाद चंदा !
गीत गाओ मानवी सब शक्ति जागे !
कल्मषों के दीन डेरे फेंक दो अब,
हम गगन के तन रहेंगे, फूल दुनिया में उगाने
हम राहु से छीन धरती हाथ ये मैले करेंगे।
चाहिए मुझको तुम्हारा प्यार ऐसा,
जो कि दुनिया के लिए आँसू बहाए।
मैं रहूँगा ही नहीं संसार में तो,
तुम रहोगी भी नहीं होकर अमर तो,
जानते यद्यपि नहीं हम ध्येय अंतिम जिंदगी का,
किंतु जब हमने लिया है जन्म जग में,
हम जगत के हेतु ही जग में रहेंगे,
हम जगत के सत्य के हित ही जिएँगे,
हाँ, हमारा प्यार जग का प्यार होगा !
दूर होंगी स्वार्थ की सारी परिधियाँ,
दूर होगी व्यक्ति की सारी विवशता।
ज्ञान के पथ पर जलेंगे, दीप बनकर हम जगेंगे,
हम जलेंगे, स्नेह अपना ही जलाकर
लोक को आलोक देंगे,
धन नहीं होगी कभी अपनी पिपासा,
यश नहीं होगा कभी अपनी दुराशा,
कर्म के हित ही रहेंगे,
फल कभी पायें न पायें,
साधना की तृप्ति को हम
स्वार्थ के हित क्यों गँवायें ?
भूल जो हम कर चुके हैं, भूल जायें—
कल गया जो बीत, उसकी याद में ही

आज-कल को क्यों भला अपने गँवायें ?
जो गया वह तो गया, अब वह कहाँ है ?
जिंदगी वह है कि जिसमें अब यहाँ है ।
हाँ, इसी अब के लिए कल आ रहा है,
और उसके हित हृदय यह गा रहा है,
हम समय के बंधनों को पार करके,
शुद्ध करके स्वर्ण अपनी चेतना का,
गीत गायें और मन को भी उठायें,
प्राण ! मेरी बात सुन लो !

रोटी और मन

रोटी कब जन्मी तू, जो मन को कर विदीर्ण
बैठी आततायी के गेह में हो बंदिनी !
तुझे मुक्त करने को मैंने ली शपथ एक
सोचा तुझमें ही मेरी मुक्ति हुई संगिनी;
पहले मैं समझता था—मुक्ति मिले रोटी की
गीतों की समस्या फिर स्वतः हल होगी ही।
पर जब मैं रोटी के हेतु रचने को गीत
बैठा तब बोला झट भीतर से कोई यों :
'रोटी ले पलता है संवेदन मानव का,
माटी के दीपक में जलती है ज्योति-शिखा,'
सकल सृष्टि का विकास, सुंदरता औ' शिवत्व
ऐसे नितराए ज्यों सिंधु ही सिमट आये
माटी की गागर में अमृत-सा भर लाये,
जिसमें से चंद्र सूर्य तारागण निकल चले
त्रिभुवन मे देते प्रिय आलोकित फेरी-सी,
देखा तब मैंने रे अमूर्त्त जब अक्षर बन
पूर्ण का बिंब बना छूता अतलांत मन ।
तब मैं यह समझ गया चेतन है सर्वोपरि,
रोटी इस गीत की है स्वामिनी बनी नहीं,
स्वेच्छा स्वातंत्र्य नहीं, कर्त्तव्य स्वयं मुक्ति,
प्यार की स्वाधीन सत्ता मन का विकास बनी।
भूखे को रोटी ही संबल है सर्वप्रथम,
किंतु भूख तन-मन की रहती हैं साथ-साथ,

रोटी है खाद, नहीं फूल स्वयं,
पशुता की साधन विहीनता ही भूख प्यास,
रोटी मानव का वह श्रम है विवेक-भरा
जिसने जड़ धरती मे संस्कृति की नींव धरी।
गेहूं का खाद वनना है नहीं अंत पूर्ण,
मानव का प्यार वढे उसका है यही लक्ष्य।
उन्नत हो मस्तक औ' जीवन हो शक्तिवंत।
रोटी नहीं मेधा की जड़ता की छलना जो
सामूहिकता की वेदी पर बलि बने व्यक्ति,
दर्शन के, आस्था के, प्रेम के अभाव में ही
वह न खोज व्यक्ति की जो डवे जा विकार वीच,
मानव का मानव से प्रीति भरा गहरा संवंध वही,
मानव का सृष्टि और स्रष्टा से मिलन वही,
श्रम में परोपकार भावना का वह विकास,
वितरण में पर-सुख की भावना का ध्यान वह,
सभ्यता, अहंकार, शोषण औ' गर्व आदि
रोटी की कोमलता सुस्वादुता को हैं,
कंचन की चकमक का पर्य्याय देते वना;
और कुछ रोटी को वाँटकर छीनते विवेक मानों
तेल डाल दीप में वुझा दे कोई ज्योति-शिखा,
धरती को फाड़ अन्न उगना ही रोटी नहीं,
मानव के श्रम की वह प्रीति है प्रकाश-पुंज,
रोटी के लोहू का मान करो, गीत-सा कोमल वह,
ऋषि ने उसे 'ब्रह्म' कहा, मूल कहा,
किंतु वह साधन है, साध्य नहीं।
रोटी तो प्रतीक है हमारी सुख-सुविधा का,
रोटी ही पशुता की तृप्ति में जगाती सदा—
है अतृप्ति चेतना की, गीत बनी चाहती जो—
गूंजना विभोर वनी झंकृत कर उर उर को
अतः अव कहता हूँ,
पहले जो समझा था

सतही विवेक से वह
ठीक ही था, किंतु स्वयं—
सत्य पूर्ण नहीं था परन्तु एक अंश ही था।
अब एक और अंश सामने हुआ है स्पष्ट—
रोटी की मुक्ति भी है मन की स्वाधीनता।
खंड-खड करके मत देखो जो दीख रहा,
जीवन की सरगम में राग बनते हैं तभी
जब कि सभी स्तर समस्त रूप में विराजमान,
पहले औ दूजे का भेद एक जड़ता है।
कहता विकास यही : रोटी को बनाओ मन,
धरती में मूल रहे, मुक्त किंतु रहे फूल।
स्वर्ग वही होगा इस सीमित मानव का जहाँ
रोटी-मन दोनों संग-संग जय पायेंगे।

कच्छप

सभ्यताओं की कड़ी पर्तों से
मेरी पीठ बनी है,
उस पर अब कोई असर नहीं होता;
लेकिन मेरा पेट अभी तक संस्कृति-सा नरम है,
इसे मत छूना।
इन सभ्यताओं का बोझ मैं ढोता हूँ
इसी संस्कृति के बल पर,
मुझे उल्टा मत करो,
फिर मैं पड़ा-पड़ा छटपटा सकता हूँ,
सीधा नहीं हो सकता।
एक बात और सुनो,
गहरे पानी की तहों को भेद कर भी देख आया हूँ,
नीचे भी कीचड़ है,
और किनारे की सुंदर भूमि पर भी
मुझे तो कीचड़ में से ही चलना पड़ता है।
आकाश को पानी में से देखता हूँ
तो भी उतना ही दूर लगता है
जितना किनारे से···

बिखरा हुआ ध्रुपद

कैसी उचटी यह नींद अचानक ही मेरी,
इन गंधभरे से फूलों पर सिर रखकर मैं
कब ध्रुपद तुम्हारा सुनते-सुनते ही सोया,
कब तुम सोये रतनार नयन,
मुझको लगता है मानों मैं सोया न कभी,
सोते हो तुम ?
मैं देख रहा हूँ रत्न-कोष,
उस नील व्योम में जगमग जगमग दीपावलि,
    नक्षत्र असंख्यों करते हैं झलमल झलमल,
मेरे मानस के नयन हो रहे देख शांत,
कितने हैं ये उज्ज्वल तारे,
छूते पृथ्वी के ओर-छोर यों दूर-दूर,
ज्यों ज्योति-किरण के शावक हैं करते पुकार,
ज्यों फेन नील सागर पर बुद्बुद् करते-से,
या रजनी की चुनरी पर रत्न जड़े झिलमिल,
या नीलघनों में हंसों के उड़ झुंड चले,
या ये लोचन-तैराक बीन लाये मोती
इस गहन तिमिर के अतल तलों में चुभकी भर,
या ब्रह्मा के हैं पुत्र अनेकों खड़े हुए
        इस महाशून्य की अंधकारमय राहों पर,
या बिछा हुआ है मायावी का गहन जाल
या भटक रहे ये युगयुगांत से व्यापारी उल्का लेकर
        हैं खोज रहे अपने पथ को,

या कल्पों की आशा की संज्ञायें महान
दे रहीं चुनौती प्रलयों को हो दीप्तिमान,
या सृष्टि-कमल सोया है झुकता उल्टा-सा
जिसका पराग बनकर ये कण-कण हैं बिखरे,
या अक्षयवट पर लगा हुआ है यह छत्ता
हैं दिव्य-ममाखी-दीपित जिस पर मँडरातीं—
एकत्र कर रहीं काल-कुसुम की दिव्य-सुधा,
या पावन गौरव-बेला में
नतशीश दिशाएँ किसी सती की
ज्वलित चिता के अंगारे ले जाती हैं,
या देवासुर-सग्राम भयद में वह अनत मांत्रिक अपना
अब हाथ उठाकर मृतकों को है जिला रहा,
या मृत्यु-भूमि में भीति मिटा कर शौर्य-रूप
शाश्वत-जीवन का विजयी गुल्म खड़ा आगे,
या नींद-नींद की घाटी में स्तुतियाँ गाते
है भक्त चुन रहे तिमिर-वृक्ष के फूल मधुर
आलोक-पुरुष-दिनकर का अर्घ्य चढ़ाने को,
देवालय के पट से यह मेरे नयन शांत
कितने अवाक्,
ये कितने लोक बुलाते हैं मुझको !
क्या रह आया हूँ इन सबमें,
या अब जाकर रहना होगा !
है शिरा-शिरा में स्फुरित डोलती सोच-सोच,
ओ गायक ! सोता है तो सो, पर यह बतला—
मेरा विज्ञान मनस विस्फारित जो विमुग्ध,
क्या तेरा बिखरा हुआ गीत साकार बना
अब रहा बोल···

फागुन

[1]

पिया चली फगनौटी कैसी गंध उमंग भरी,
ढफ पर बजते बोल नये ज्यों मचकी नयी फरी।
चंदा की रुपहली ज्योति है रस से भीग गई,
कोयल की मदभरी तान है टीसें सींच गई।
दूर-दूर की हवा ला रही हलचल के जो बीज
ममाखियों में भरती गुनगुन करती बड़ी किलोल,
मेरे मन में आती है बस एक बात सुन कंत
क्यों उठती है खेतों में अब कुहू सुहागिन बोल !
सीसीसी कर चली बडी हुचकोले भर के डीठ
पल्ला मैंने साँधा अपना हाय जलन कर नीठ,
डफ के बोल सुनूं यों कब तक सारी रैन ढरी
पिया चली फगनौटी अब तो अँखियाँ नींद भरी।

[2]

रुक रे विधना, मुझे अकेली जान न ऐसे लूट !
तलफ-तलफ कर हुचकोले भर रोऊँ किस पर रूठ !
हे पिय ! कब का गया, अभी तक आई याद न घर की,
कब से मैं गिनती दिन हारी, गिन-गिन छाती दरकी,
हुई बंद कब मेरी आँखें ? तेरी ही छवि करकी,
भर-भर आई बार-बार पर गई न छाती टूट !

अब तो फागुन आया कैसी हवा हुई अँगारा,
मन की मन में कब तक कसके, दीखे नहीं किनारा,
आजा अरे कमेरे ! अब तो घिरता है अँधियारा,
कैसे खेऊँ नाव, गई पतवार अंत में छूट,
विधना ! मैं लूटूँगी तुझको, विष के पीकर घूंट !

[3]

बलमा ! उसी आम के नीचे फिर आई हूँ आज,
जहाँ तुम्हारी पलकों में उस दिन मुस्काई लाज।
वे ही दिन हैं मंद धूप के, फागुन के मदमस्त,
बौरों की गंधों से भौंरे हैं अलसाये पस्त।
उस दिन तो सब कुछ पाया था आज गया सब रीत,
सूनापन ही बढ़ा रहा है इन टीसों की प्रीत।
बलमा ! यह जो आम बदलता अपने इतने रूप,
इसे देखकर छाया बनती मुझमें प्यारी धूप।
कैसे अब मैं विकल न होऊँ, कर लूँ कैसे काज ?
सब कुछ मेरा यही खो गया, यही गिर गई गाज !

[4]

आधी रात आज भी बीती, चुका दीप का तेल,
अब तो सोना होगा, कोई नहीं बची है राह,
कितनी डगरी डगराई है आँखें गईं न डोल,
अब तो भर लूँ मैं बजमारी यहाँ अकेली आह !

नींद आप ही आयेगी जब होगा हियरा मौन,
इतनी बेला जागूँ मुझसे यह ही कहता कौन ?
क्या मेरे फल हैं औरों के, औरों की है गंध ?
बौरों का जोबन तो लूओं की तकता है राह !

चक्रव्यूह के महारथी

मेंढक :
टर्र टर्र, नव जीवन आया, जीवन आया,
बहुत दिनों मैंने तप तप कर है दुख पाया,
अब सजला हो गई सृष्टि, कैसा सुख छाया !

छोटा कीड़ा :
सारी पृथ्वी अब कैसी है ढीली ढीली
फूलों की पंखुरी बनी है पीली पीली
धीरे-धीरे इन गीली पर्तों में चलना
हरी घास में लुक छिप लुक छिप देख उझकना
मुझको कितना अच्छा लगता, मोहक लगता।
बड़ी प्यास थी, आज बुझी है कितने दिन में,
तिर्य्यक योनि बहुत अच्छी है कितनी सुखमय,
अरे यहाँ यह गोल गोल टीले हैं कैसे ?
चलता हूँ इन पर तो बहुत मुलायम लगते !

केंचुआ :
माटी उगल उगल मैं धरता जाता सुन्दर,
यह है कौन चढ़ा आता इन पर हो निर्दय,
बड़ी भूख लगती है क्यों इसको निहार कर,
अहा, खा लिया मजा आ गया इसे निगल कर

मेंढक :
अरे कौन यह गिलविल गिलविल करता आता

हहा ! केंचुआ है तो मैं अब इसको खालूँ,
वर्षा लाती कितने प्राणी खा लेने को,
तरह तरह के कीट दीखते पल पल मुझको।
जय हो मेरी भूख कि तुझको तृप्त करूँ मैं !

साँप :
मेंढक, मेंढक ! कितना मांसल, कितना सुंदर,
मेरी भूख प्रचंड हुई है इसे देखकर,
इतने दिन मैं तड़प तड़प था भूखा-भूखा।
आजा, आजा, ओ अनजाने, महामरण हूँ,
सुख की तृष्णा के मतवाले मुझमें खोजा,

मेंढक :
अरे छोड़ दे…मैं निर्बल हूँ, काल, छोड़ दे,
मैं सूने बिल में सोता था सुख निंदिया में,
वह अभाव अच्छा था जिसमें न थी यंत्रणा,
यह वैभव की अभिमानिनि वासना अचानक
मुझे कहाँ ले आई मेरा दम घुटता है,
अरी दिशाओ, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ
ओ व्यापक अतलांत घहरते ! मुझे बचा ले,
अभी यहाँ मैंने देखा ही क्या जगती में,
मुझे बहुत है प्यार धरा की इस माटी से,
खाता था जो कुछ मिलता था सुख से रहता,
हाय छोड़ दे मृत्यु मुझे मैं अति बेबस हूँ।

साँप :
कैसे छोड़ूँ जब तू ही मेरा भोजन है,
यहाँ आत्महत्या है केवल पाप भयंकर,
जन्म नहीं माँगा था मैंने जो आया हूँ
फिर है मुझको दण्ड भूख का दिया गया यह,
मैं हूँ विवश तुझे खाने को, यों खाता हूँ।

मानव :

कैसी सिरजन की सत्ता है यह विलक्षिणी !
जिसके ब्रह्मा के भीतर है रुद्र पल रहा !
इसको मैं जीवित रहने की मुक्ति न दूँगा।
नहीं कीट मैं जो मुझको यों ही तू डस ले !
मैंने वन के नगर बनाये, सभ्य बना मैं,
मैंने सागर पर अपना लोहा तैराया,
मेरा ही फ़ौलाद गगन में भी उड़ता है,
सकल सृष्टि में जितनी भी है शक्ति सो रही,
सबको ईंधन-सा मैं पल-पल जला रहा हूँ,
तू है भीषण क्रूर; तर्क से कहीं न परिचित,
तुझे यहां रहने का भी अधिकार नहीं है।

साँप :

तुमने जीती है धरती की सारी बेला ?
तुमने दिया न जन्म मुझे, तुम क्या समझोगे ?
जिसने मुझे बनाया है, यद्यपि मैं उसको
नही जानता, फिर भी वही नियामक मेरा,
इतने दिन मैं छिपा हुआ था इस पृथ्वी में,
तब क्यों रहा, तुम्हारे हित यदि मैं जन्मा था ?

मानव :

कहीं रहा, पर माटी खाने पर भी तुझमें
केवल जहर बना जो पल में मूर्छित करता,
(जिस माटी से पोषण लेकर पौधे कोमल
सुंदर फूल उगाते भर देते सुगंधियाँ।)
तू है दुरित कठोर सृष्टि का अंधकार ही,
तुझे नहीं छोड़ूंगा मैं यों ही नगण्य-सा।
ठहर आततायी ! मैं तेरे गुंजलकों को
मूर्च्छित कर दूँ, काल, काल मैं तेरा भीषण !

आकाश :
ठनको वज्र, घोष से धरती को थहरा दो,
अरी बिजलियो ! तुम पानी में आग लगा दो।
मैं हूँ व्यापक शून्य सभी को खा जाऊँगा,
उजियारे अँधियारे में जग को बाँटूंगा।
मैं पवनों के संघर्षण का कोलाहल हूँ,
मैं विध्वंसों में भी रहता मौन भयंकर,
सब कुछ मुझमें ही लय होगा भस्मसात हो।
मैं हूँ कठिन ललाट रहस्यों का उद्गाता,
मुझमें गहन समुद्रों का स्तंभन विलमाता।

महाशून्य, वायुमंडल के परे :
कीट सदृश यह धरती कैसी घूम रही है,
मक्खी जैसे भनभन करती सी उड़ती है,
इसे निगल जाऊँगा मैं दाढ़ें फैलाकर,
इसका यह आकाश चिपकने-पंखों जैसा
कैसा छोटा-सा है काला नीला दिखता···

हिमालय से दिक् दिक् तक

[1]

चल हंसिनि उस मानसरोवर
की शीतल छाया में,
वहीं रहेंगे, जहाँ शुभ्र जीवन है, निर्मल सुन्दर,
यहाँ अभी पावस लायेगी मटमैला जल खरतर,
कहीं न दाग लगे कोई इस
हिम-उज्ज्वल काया में,
सारी भूमा है रहने को, वहीं स्नेह करना रे—
जहाँ शांति निर्द्वन्द्व राजती वहीं सदा बसना रे,
गतिमय रहने से सुख मिलता,
नहीं स्थाणु-माया में,
जल थल नभ में हम उदात्तगति सदा जियें
वह जीवन
जिसमें स्वतंत्रता उन्नति हो सत्य और शिव-
शोभन
राजहंस तो सदा जियेगा
ज्योति अमल छाया में।

[2]

ले पाथेय मृणालों का उड़ राजहंस चल पड़े किधर
मटियाले मेघों के ऊपर उड़ते जाते है तिर-तिर,
हिम-मंडित ऊँचे शिखरों की ओर जा रहे हैं निर्भय
तपस्पूत आत्माएँ जैसे ऊँचे चुन लेती हैं पुण्य-निचय
मैं भी ऐसी ही गरिमाएँ चाह रहा हूँ जीवन में
लघुता के बंधन से करता सदा घृणा मैं तो मन में
क्या पाथेय मिलेगा मुझको इतने ऊँचे जाने का ?
मैं भी पंकों में ढूँढूंगा सरसिज अपने गाने का।

[3]

हँस ! भाग्य है गति अवनी अंबर की,
गति है चक्रव्यूह स्वय जीवन की।
सुख छलना है, बस अभाव है गति का,
एक धार में बँधना पथ है यति का।
भय के पर्वत बाँटे अंतर्बाहर,
पंखों से नप जाते सारे अंतर,
देखो ! उन्नत होकर, उठकर ऊपर
कर्मठ ही जीवन-सुख पाते भू पर।

उड़ते समुद्र के छींटे

[1]

यह भी कैसा प्यार कि मेरा प्राण घुटा जाता है!

तुम्हे याद है उस दिन जब तुम महानदी-सी उफानीं?
जिस दिन मेघ बना मैं आया भरे वासना अपनी?
यह रेखाओं का गौरव है? चित्र मिटा जाता है!

चपल कमल थे या वह क्या थी शफरी की; चंचलता?
जिसने मुझको बाँध दिया था, हर मेरी आकुलता?
दो बूँदों की लाज कि मेरा दाह लुटा जाता है!

फिर वह क्षण जब युग-युग आये सब सिमटे उस क्षण में,
जैसे सारी सृष्टि समाई उस क्षण लघुतम कण में,
अरे कौन पत्थर फिर मेरा स्वप्न जुटा जाता है!

माटी की ममता की प्यासी तृष्णा है अनकहनी,
मुझे याद है उस दिन जब तुम सृजन-चेतना उफनी,
क्या जो बात मान लेता है, वही झुंठा जाता है!

मानव-मन की सहज सरलता से विश्वास घनेरा,
किंतु नहीं उठ पाया है रे फिर भी अब तक मेरा,
सब कुछ होने पर भी तो विश्वास उठा आता है!

[2]

अरे आओ पियें दो घूंट
मधुवन भी सिहर जायें !
सदा से पूछती हो मैं कहाँ से गीत लाता हूँ,
तुम्हें क्या ज्ञात कितनी सृष्टियों को मैं चुराता हूँ ?
मगर किस मोल पर कह दूं ?
हटाओ ! गीत अब गायें !
पतंगा मिल गया अब दीप में ज्वाला हुई शीतल
उजागर हो गई मिट्टी कि अँधियारी हुई उज्ज्वल,
हमें जब बोलना है, क्यों न
जग को भी बुला जायें ?
चलो इतना बताता हूँ कि मैं तो सच नहीं हारा
मुझे जो रोक दे ऐसी, नहीं जन्मी अभी कारा
अगम के व्योम मेरी परिधियों के
नाद दुहरायें !
जलाना दीप है तो आँख में विश्वास जलने दो,
कसम से मौलसिरियों सी मधुर मुस्कान झरने दो,
प्रलय सिरजन हमारी
मुट्ठियों के फूल बन जायें,
मरण तक चाह जीवन की हमारी कौंधती डोले
अरुण भी जय पताकाएँ हमारी फरफरा खोले,
हमारे हास की ध्वनियाँ
अवनि अंबर गुँजा जायें !

[3]

कब तक यों ही चलूं, शांति क्यों
मुझे नहीं मिलती है ?
निर्दय शृंखल क्रूर नियति की
कटी न तृष्णा हारी,
प्रतिध्वनियों का ऋण ले लेकर

स्वर भी हुआ भिखारी,
नीरवता भी तो मानस को
वैसी ही छलती है !
चक्रवाक सा रहा चीखता
देता आकुल फेरी,
अन्तराल की लहर-लहर भी
मैंने रह रह टेरी,
किंतु जहाँ की तहाँ प्राण की
कसक वही पलती है !
सारा यौवन रहा बिलखता
उफनी स्मृति की धारा,
करुणा से विदीर्ण हो रोई
धीरज की भी कारा,
यह है कैसी शिखा कि जो
बुझने पर भी जलती है !
मुझसे यह मत कहो कि
सबकी ही मिटती अँधियारी,
गोपन पीर उजागर होगी
यदि होगी उजियारी,
स्वयं हिमानी में ज्वाला भर
कहता हूँ गलती है !
पर यह जल-धारा क्या मेरी
यों ही बह जायेगी
यह तो इस धरती में फिर से
कंचन भर लायेगी,
शांति सृजन में ही रहती रे
अन्यों में फलती है।

[4]

नये विश्वास के नव-गीत हम
जग को सुना जायें !
अभी तक मंजिलों की दूरियाँ थीं दूर से दिखतीं
मगर सब हो गईं तय क्यों अचानक क्यों नहीं बहतीं ?
नये आधार चलने की नयी
अलमस्तियाँ लायें !

अँधेरे प्राण में तुमने जला दी स्नेह की बाती,
विरह था यह सकल जीवन, तुम्हीं हो स्नेह की पाती,
जलन के दौर अब फिर से
शुरू हो जाय मुस्कायें !

निराशाएँ बहुत हैं, प्यार से उनको हराना है,
हृदय की हर कसक से मोल उनका ही चुकाना है,
घरौंदों के सहारे सिंधु हम
पीछे हटा जायें !

मुझे यह क्या विदित था एक है मेरी अलग हस्ती,
इसी से आज मुझमें छा गई है प्यार की मस्ती,
चलो अब खुल गये हैं दिल
नये रस्ते बना जायें ।

[5]

मेरे जाने पर क्या मुझको याद करेंगी, बोलो,
मेरी इतनी चली हुई यह मेरी प्यारी राहें ।

अरे बता सकता हूँ कितनी बार पपीहा बोला
कितनी बार यहाँ मैंने उसके स्वर पर मन खोला;
माटी हूँ, पर ज्योतिशिखा को सुलगाकर अंतस् में
वैर बीच है मैंने अपनी भरी स्नेह की आहें ।

मौलसिरी की गंध पी चुका फिर भी प्यास न हारी,
पूनम के कागद पर लिख दी अमा-गीतिका सारी;
क्या यह मधुवन भूल सकेगा मेरे विह्वल मन को
मलयानिल से भेंट चुका हूँ मैं कितनी भर बाहें !

वे, जो मुझे प्यार करते थे, चले गये हैं तजकर,
उनकी रिक्ति न भर पाई है, लाई आँखें भर भर;
यह इतिहास धूल का है, या धूलों की गाथा है,
इस पथ की भूलों सुधियों की किसने नापी थाहें!

चिर सुन्दर का संवेदन भी बड़ी शक्ति रखता है,
मोह भले हो बन्धन, लेकिन अच्छा तो लगता है;
मैं रोता हूँ पथ के हित, या पथ मेरे हित रोता ?
दोनों की अपूर्ण ऐसे ही रह जायेंगी चाहें !

फिर आऊँगा नया रूप धर यहीं किसी दिन निश्चय
नये फूल होंगे, पत्ते भी नये यहाँ तब छविमय;
जहाँ मरण के पीछे लगकर जन्म विजय-रत डोले,
जहाँ सभी हैं चलने वाले, वहाँ सभी हैं राहें !

[6]

बुलाये राह क्या हमको
हमीं जो राह ले आयें,
अँधेरे की उमस में बिजलियों की
कसमसाहट हो,

जलें जब मेघ-दीपों में
शिखाएँ प्राण सुलगायें !
लुटा दें उँगलियों की पोर से तूफान हम योंही
नही है द्वन्द्व हम सचमुच
कि अपने में उलझ जायें !

मजा तो तब मिले जब दीप हम अपने
बुझा देवें
मशालें चाँद सूरज की
हमारी राह दिखलायें !
ग़मों के वास्ते आँसू चुआदें और हों हल्के
नये निर्माण का प्रारम्भ
सपने - आप बतलाएं !
बिखर जाये किसी दिन जब हमारी
बोलती माटी
नयी दुनिया बसाने के लिए
हम धूलि हो जायें !

गोपन पृथ्वी का आलोक क्षितिज

[1]

मेरे वनफूलों को तुम स्वीकार करो हे,
मैं भी तो गोपन हूँ, मुझसे प्यार करो हे !
मेरी सत्ता शिव है, सुंदर काया सत्य बनी है सपना,
वहता हूँ, सबमें चेतन हूँ, छन-छन बनता सबका अपना,
गंधित मेरे श्वास-श्वास शृंगार करो हे !
सकल दुरूहों की तृष्णा को माटी की ममता से छूकर,
मैं तो ज्योतित कर लेता हूँ, भर संवेदन नीचे-ऊपर,
वेला बन कर प्राण-सिंधु निस्तार करो हे,
मैं भी तो गोपन हूँ, मुझसे प्यार करो हे !

[2]

इस मंगल कानन में आओ उठे गीत का नाद,
वाणी में स्थिरता पाते हैं नश्वरता के वाद ।
बाँसों के झुरमुट में भी तो है मुरली का वास,
अपने से तुम दूर न खोजो, जो है भीतर पास ।
भीतर-बाहर की अतृप्ति का नहीं मिलेगा छोर,
यदि मुस्कान नहीं रँग देगी इन नयनों की कोर,
अविदित का आकाश नाद में होता है साकार,
तन्मयता के नेपथ्यों में ज्यों कोमल झंकार,
आओ गोपन को मत ढूँढ़ो, ढूँढ़ो अपने बैन,
गीतों का विभ्रम छा जाए आँसू से भर नैन ।

[3]

गूँजी मधुवंती तारों पर
अलस-अलस झनकार !
झूम-झूम छाया सम्मोहन,
वादन में भर चिन्मय यौवन,
अँधियाला निकला कोनों से
नीरव सा सुकुमार !
अविरत् पुलकी मधुर रागिनी,
मुखरित आशा सी सुहासिनी,
ज्यों रसवंती के नयनों में
रे मधुवन का प्यार !
आई चुप चाँदनी सलज-सी
बिछल तार पर गई तरल-सी
शून्य, तिमिर, ज्योत्स्ना, वादन सब
स्वर में एकाकार !
अमृत ने चिर सुषमा घोली
करुणा रस-प्लावित-सी डोली,
हुआ उजागर अंधकार ही
त्रिभुवन में झनकार !

[4]

मुझे किनारे पर पहुँचा दे,
अरे साधना के दुलराये!
अतल गर्भ में गर्जन अहरह जो होता था अति रव करता
उठा व्योम की ओर अहं भर चिर वैभव का यौवन वरता,
किसे ज्ञात था अणु का जीवन
ज्योति-तरल मिलकर घुल जाये !
नहीं कहीं उड्डीन पंख में मेरी समताएँ तुल सकतीं,
अनस्तित्व के अंधकार में नहीं चेतनाएँ बुझ सकतीं,

लोक-निहित तन्मयता मेरी
आत्म-विकलता क्यों विसराये ?
ओ चिर नीरव ! शीश उठा तू किस भविष्य को देख रहा है ?
अमा-पीत-वैभव ! अविनश्वर के स्पंदन को हेर रहा है ?
जहां नहीं हो आत्मसमर्पण
वहां स्नेह भी क्या कर पाये ?
हे परिवर्त्तन ! विजन वनों के श्वासों से छलता जन्मान्तर
क्या अतलांतों तक करता तू चिर आदिम-प्रहरों का मर्मर !
ओ नीले नभ के अधिवासी ।
मुझमें घुल अब सहा न जाये !

[5]

लक्ष्यहीन पथ पर चलता है
एक बटोही भरे लगन,
कितनी है अभिलाषा मन में
आशा कितनी मुग्ध मगन,
समर्पणों पर निर्भर है क्या
मुक्ति यहां हो एकाकार,
एकत में है द्वैत लिये यह
अद्वैतों का भरे प्रसार,
जिसमें कुछ भी नहीं मिलेगा
इस जीवन में कुत्स कदर्य
करो वंदना सब उसकी ही
वही लक्ष्य मन का सौंदर्य ।

[6]

लाओगे जब यही किया है तुमने निश्चय,
तो ला देना मुझे सृजन के अंतिम निर्णय,

मुझे देवकन्याओं की भय भीति न देना,
क्योंकि प्रलय की तृष्णा को भी तो है लेना।
जहाँ नयन की विस्तृति हो लय अंतराल में
वही सृजन होगा मेरा भी नव सकाल में,
आलिंगन का दाह बनेगा कब शीतलता
कब छवियों का गात बनेगा सच विह्वलता,
लाओगे जब देवसृष्टि क्या मानव मेरा
कर स्वीकार सकेगा यह ममता का घेरा !

[7]

बरसती रसधार है, सुकुमार धरती
भींगती है प्राण तक आसक्ति भरकर,
अहं ज्योतिर्लिंग सा बन पूज्य मेरा
साधना की चाहना से ही गया भर।
किंतु शिव हूँ, इसलिए उन्नद्ध हूँ मैं,
वंदनारत विश्व मेरी छवि परात्पर,
सकल मैं हूँ, व्याप्त मैं ही, आत्म मैं ही,
पूर्ण हूँ मैं, मुक्त हूँ, निष्काम सुंदर।

[8]

मुरलिया बाजे
ऐ हो मेरे रोम रोम में नाद लीन अवराजे,
तृष्णा जन्म-जन्म की भूली अब तक पंथ न जाना,
किस मनमोहन ने मेरा यह स्वप्न छुआ मनमाना,
अब तो रंध्र रंध्र में मेरे मौन पूर्ण सुख साजे।
मैंने अपने अंग अंग में सिक्ति-पाश को जाना,
त्रिभुवन की वासना समाली अकह नहीं कुछ माना,
ऐ हो कैसी गूँज कि सत्ता स्वयं नाद-सी काँपी,

मेरे शब्द-शब्द में अब तो वही प्रतिध्वनि व्यापी,
मैं हूँ कंचन पात्र अग्नि में जो अपने को माँजे,
मुरलिया बाजे !

[9]

दिवला मैं अर्चना करूँ, तू फिर क्यों हुआ उदास
तेरी माटी अब तक कितने लुटा चुकी उच्छ्वास
पंथी ! माटी के इस पथ में झेले कितने पाश !

इस समतल में परिधि-मिले कुछ, इसीलिए स्वीकार किया सब,
अपने भीतर कैसे भी कुछ प्राप्त सकूँ कर थी तृष्णा सब,
तप कर तूने मुझे सिखाया सिरजन और विकास !

मन की चाही कब मिल पाई, अपनी निधि है आप लुटाई,
पर जिस दिन के लिए किया सब आज वही तो वेला आई,
दिवला रे क्या स्नेह न तेरा प्राप्त कर गया लास !

भले स्नेह अपना पीने का तुझको ही अधिकार नहीं है,
पर वह जले किसी के तो हित यह क्या जय-उपहार नहीं है ?
दिवला रे बलिहारी तू है अँधियारे की आस !

माटी पकी न होती तो क्या होता ज्योति विकास ?
तेरी तो सार्थकता ही है जल कर करे प्रकाश,
दिवला मैं अर्चना करूँ तू दे मुझको विश्वास !

[10]

सृष्टि के पहले दिवस तूने दिया आधार मुझको,
मौन रहकर ही दिया आवास यह साभार मुझको।
मैं विहग अनजान नभ में ढूँढ़ता तृण था अजाना,
आह तेरी स्थिति मुझे जब मिल गई तब भय न जाना।

[11]

जानता हूँ मैं कि यह माटी सलोनी
नाश सिरजन में कभी चुकती नहीं
इसलिए बँट-बँट नई बाती बना
धर दिया जाता सदा मैं भी यहीं।
काल-ज्वाला सा मुझे है घेरता
कुछ दिनों जलता यहाँ मैं दीन बन,
पर जलन को ज्योति के वरदान ने
दे दिया है अर्थ भी तो लीन-मन !
तोड़ सीमा देखने से डर नहीं
और लघुता का न होता भान है
ज्योति भरती है हृदय में, जानकर
अल्पता मेरी बड़ी सप्राण है।
यह विवश आकर्षणों की वेदना
देखकर सच तृप्ति ही होती नहीं,
रंग माटी के निरखता मैं चलूँ
ज्योति का निश्वास बन रह लूँ यहीं।

स्वर : प्रतीक्षा के

'स्नेह' ने
'प्रिय' से किया यह प्रश्न,
मानों सिंधु से बोला हिमालय :

"मैं तुम्हारे धवल हिम से प्यार को ही
शीश पर अपने उठाये यत्न-डूबा
दूर, अपनी जननि-धरती
से अलग-सा हो गया हूँ,

नील नभ के वृक्ष से जो
ज्योति का कंचन-विहग है उतर आता
और फिर है लौट जाता,
है वही
मेरा अकेला एक साथी !

काल-दिनकर तप रहा है,
और मेरा कोष
पिघला जा रहा है,

क्या उसे भी निगल
जाओगे पुन: तुम ?
स्वयं अपना दान
लौटा कर रहोगे ?
स्वार्थ के ही शंख में छिपकर रहोगे
कीट बनकर ?

भय तुम्हें ऐसा लगा है ?
आयु-सागर से डरे हो ?

भूलते क्यों ?
तुम स्वयं हो एक सागर !
तुम मुझे दोगे नहीं क्या
मोल मेरी साधना का ?
है तृषित प्रत्येक मेरा कण
इसे सिंचन तुरत दो,
मैं अमर हूँ प्रश्न, आदिम याचना हूँ—
तुम करो अभिव्यक्ति मेरे माध्यम से—
तुम न दोगे क्या मुझे
जो प्राप्य मेरा ?
गर्व क्या तुमको बहुत
गहराइयों का ?"
प्रतिध्वनि से बीच का अवकाश मिलकर
हो गया सब एक,
बनकर शब्द-गरिमा !
कहा सागर ने घुमड़कर :
"है तुम्हारी तपन
मेरा दिव्य जीवन !
क्षार से उद्भ्रांत मैं तो सोचता हूँ—
वे तुम्हारे शिखर,
वे हैं धन्य निर्मल !
मैं तुम्हारे चरण-तल पर
सर्प-सा हूँ छटपटाता,
देखकर उन्नत तुम्हारा
शीश, पाता सांत्वना हूँ;
जानते हो क्यों न मैं
रस-भेंट अब तक दे सका हूँ ?
जानते हो क्यों विलंब
हुआ घनेरा ?

काल-दिनकर ही तपाता है मुझे भी,
इसलिये ही, तव तुम्हारा
दिव्य-गौरव देख डरकर,
क्षार मैं देता न तुमको,
रत्न-बूँदों-सा सुनिर्मल
मेघ देना चाहता हूँ मैं तुम्हें तो,
क्योंकि यह मैं जानता हूँ—
शीश पर जो धारता है 'यत्न' मेरा
दिशायें उस शीश की
जय बोलतीं, फेरी लगातीं,
अतः भूलो मत
कि जीवन-क्रम निरंतर कह रहा है :
पूर्णता है नहीं अपने-आपमें ही,
चक्रगति में है परस्पर आश्रयों में,
प्यार है उस दाह और अभाव का शुभ नाम,
इसलिए यों मत कहो, यह याद रखो,
प्रश्न मेरा ही उठा है
इन अतल गहराइयों से
जो कि जाकर स्वयं गूँजा
तुम्हारी उन स्वयं धन्या शोभिनी ऊँचाइयों में
प्रतीक्षा ही करता रहूँ क्या ?
विरह की है परिधि-रेखा
वृत्त यह अपना बनाती,
इसे मिलने दो स्वयं ही,
मिलन की परितृप्ति इसकी
पूर्णता बन प्रकट होगी।"
स्नेह प्रिय
गिरि सिंधु सब ही
मिल गए ज्यों प्रश्न-उत्तर
स्वर प्रतीक्षा के न डूबे···

गंधर्व-मिथुन और चित्रकार की उपलब्धि

उड़ता नील व्योम में, किसने, यह गंधर्व-मिथुन अंकित कर,
झरती बूंदों को दिखलाया स्नेह चपल-दृग में मुद्रित कर ?
एक अकह तन्मयता इनके नयनों में युग-युग का बंधन
बनकर अब तक कांप रही है यौवन में भरती चिर स्पंदन।
इनका जीवन स्निग्ध स्वप्न है केवल है आलिंगन-चुंबन
या फिर तारों की झनझन में है शाश्वत नादों का स्पदन
यहाँ मुखर रति नर-नारी की लज्जा जिसका अंत नहीं है,
तृप्ति तृप्ति है, फिर अतृप्ति है, फिर भी जिसकी तृप्ति वही है।
उन्नत यौवन, चंचल चितवन और प्राण का मुग्ध विसर्जन
यही-यही गंधर्व-मिथुन की आकृतियों का रूप चिरंतन।

मैं अवाक्-सा देख रहा हूँ क्या अपना जीवन भी ऐसा
हो सकता है चिर परिमार्जित, जिसमें हो सुख-शाश्वत जैसा!
नहीं, पूर्वजों की सुंदरतम मिलन कल्पना आकारों में
ऐसा सुदर रूप पा गई मानव-मन के प्राकारों में
वाम-शक्ति आराध्य बन गई, स्खलन बन गई चिरासक्ति-सी,
फिर क्यों मेरे पौरुष ने है दिखलाई यह निरासक्ति-सी ?
छवि का एक-एक क्षण होता युग-युग का वासना विवर्त्तन
उसे मिटाने में अशक्य हो पराभूत होता परिवर्त्तन।
मांसल जीवन की गरिमा ही हमने अपने स्वप्नों में भर
मानव की जय स्थापित की है इतने सब अनुमान भेदकर।

छवि की वाणी सत्य और शिव करती मन में सदा समन्वित
युग केवल बाह्यान्तर बनकर बह जाया करते हैं अन्वित,
सृजन-प्रलय पलकों में होते उन्मेषों में व्याप्त अगत तक,
उड़े चलो गंधर्व-मिथुन तुम नभ में इसी भाँति युग-युग तक !

बिजलियों का मन

ओ पपीहरा ! मत पुकार तू,
भरा-भरा मन डोल रहा,
रिमझिम रिमझिम रिसे बदरवा,
जल में ज्वाला घोल रहा।

गझिन बिरवा हुमस हुमस था
कभी फूल झूमा करता,
तू क्यों इसकी फेरी दे दे,
पी पी कह घूमा करता ?

मेरे आँगन की उजियारी
जो मेरी परतीत बनी,
नयन लजीले वाली मेरी
दैया कैसी प्रीत सनी !

डोली मेरी आस न आतुर
हाय सुहागिन जीवन की,
किलकारी भर पुण्य मनाते
क्यों सँकरांत नहीं मन की।

मैं मानिनि कब, खुलीं किवरियाँ
दियला लूँ आरती सजा ?
गाऊँ गीत किसे मैं अपने ?
आहें सब यारतीं लजा।

अब की शोभा बनी कसौटी
कल की कौन पुकार रहे ?
हिरना चौक घरौंदा लाँघे
मेरा मन किस भाँति सहे ?

सूख गया जब मूल रहे वह
हरा हरा डहडह कैसे ?
हाय गमकने ! हुआ पनीला
बद्दल फिर दहदह कैसे ?

पवन बिसर कर बिखरा-बिखरा
चुभा कसकना शूल यहीं,
थाती बनकर छाती पर अब
मँडराई वह भूल यहीं !

डरा डरा है मन कि न सुधियाँ
लौटें फिर-फिर साल उठें,
तेरी स्वर-डगरी को तकतीं
मेरी चाहें पाल उठें।

तू क्या जाने यह चदा की
आज नयन आँजती, दई !
दहक-दहक मेरे सुपनों के
छोरों को माँजती नई !

धरा-धरा कुंदन बनता है,
कौन पसरती चाहों में।
अरे बावले ! तुझे निखरना
है तो आजा दाहों में।

बरबस बंदी था वसंत फिर
क्यों उकसाया स्नेहों ने !
बार-बार निर्दय झंकृति में
कसक झेली देहों ने !

बहा न दे अरमान सुनहले
इन बौरानी चाहों में,
मोती तो मिलता है उसको
जो भी डूबे थाहों में !

झरा-झरा पर जाता बगरा,
बगरा, झरा अधीर घना,
अरे कुसुमतम ! रोक कुलिश-स्वर,
चुभता है यह तीर बना ।

अरे लाज कर, गिरे गाज, तू
बात प्यार की खोल रहा !
ओ पपीहरा ! हाय हठीले !
तू हारा, तू बोल रहा !

विहान

ओ सजनि
ओ सजनि
खोल दे आँख री !
बज रही व्योम में भोर की बाँसुरी
फल है अब कली खोलती पाँखुरी,
हेम खग के हिले
स्नेह से पाँख री !
छोर पर व्योम के चंदनी चाँदनी
अब नहीं रात को शेष है ढालनी,
गंध पीता पवन
मंद ले साँस री !
मुक्ति के बंध-में जागती कामना
साँकरी है गली प्रीति की साधना,
अब अली को कली
देखती झाँक री !
ओ सजनि
ओ सजनि
खोल दे आँख री !

मुझे दोष मत दो

छायाएँ ! सोती हो ?
सो जाओ।
धूप में अपनापन तुम्हारा यह
कैसे ललचाता है
अपने को दिखाने को ?
जैसे
व्यापक प्रवाह बीच यह
मैं हूँ
अपनापन दिखाना चाह रहा,
पर क्या मैं छाया हूँ ?
मेरी सीमाओं की स्पष्टता क्या
किसी ऐसे के चरणों से बद्ध है
—जो स्वयं मृत्यु का ग्रास एक ?
—जो कि मेरे और प्रकाश के
बीच व्यवधान है ?
कुछ भी हो
मुझको तो
तुममें ही मिलती है शांति मधुर...
ज्योति सहन करने की मेरी एक सीमा है...
ग्रहों का भ्रमणनाद
मेरी बाँसुरी में भला कैसे भर पायेगा ?

पृथ्वी छोटी है

पंखों में आकाश बाँध लूँ,
भुवन भुवन की व्याप्ति साध लूँ,
दीप जलाया मैंने निशि में
अब आलोक नही हारेगा,
अंधकार के रोम राम में
विद्रोहों का स्वर व्यापेगा,
मैं विप्लव को रणभेरी हूँ,
दुर्दम जीवन की फेरी हूँ।
भारिल पलकें खुल जायेंगी
मेरे पंखों की थर थर से,
डमरू से तूफान बजेंगे
सिंधु ताल देंगे हर-हर से,
प्रलय बेड़ियो से टूटेंगे
मेरे श्वास उन्हे लूटेंगे।
मुझे अमरता नहीं चाहिए,
नश्वर दो, पर मुझे मुक्ति दो,
मैं युग-युग को लीन करूँगा
अपने पल में, मुझे मुक्ति दो।
वज्र निनादो ! भरदो ठनका !
शाश्वत हो गौरव यौवन का !
जहाँ दृष्टि जायेगी मेरी
वही क्षितिज उठ-उठ आयेंगे,
वही उपा के चेतन गायन

चपल शक्ति बनकर धायेंगे,
मैं सुवर्ण का दीप्त विहग हूँ,
मैं उड्डीयनलीन सजग हूँ।
मैं जाज्वल्य चराचर सारा
भोगूँगा निज शीश उठाकर,
मेरी सत्ता की जयध्वनि में
मृत्यु विकल होगी हाहाकर,
विक्रम हूँ, मैं तो गूँजूँगा,
अप्रतिहत गति से घूमूँगा।
माटी का सारा बंधन ये
मुझसे दूर-दूर हो जाये,
मेरी स्वतंत्रता का प्रतिपल
निर्विवाद होकर मुस्काये !
मंजिल हो पथ, बंध लाँघ लूँ,
पंखों में आकाश बाँध लूँ।

अंबर की रेखाएँ

इस छलछलाती चाँदनी का
गंधमय प्याला लिये
क्या पूछते हो तुम कि यह
कितना बड़ा संसार है!
इस चाँद की सौ सौ कसम
मैं क्या बताऊँ अब तुम्हें,
सीमा वहीं इसकी बँधी
जितना तुम्हारा प्यार है!

इस दूधिया-सी चाँदनी की
मोतिया - सी छाँह में
क्यों मौन रहकर पूछते
कितना बड़ा आकाश है!
कितने पवन, कितने गगन,
की मैं गवाही दूँ तुम्हें,
जितना तुम्हारे लोचनों में
प्यास लीन प्रकाश है!

इस स्वप्न-सी भूली हुई-सी
चाँदनी की गोद में,
कैसी पहेली बूझते—
कितना कठिन यह पाश है!
मद होश कलियों की दुहाई
क्यों तुम्हें दूँ हार कर,

जितना तुम्हारी साधना की
वासना का लास है!

इस सीपियों-सी चांदनी को
मुट्ठियों में मूंद कर
मत पारिजाती नयन से
पूछो कि क्या यह ज्वार है!
तो लो सुनो, अतलांत सागर
के विरह के दाह का
त्रैलोक्य तक फैला हुआ
यह कौधियाता प्यार है!

मुखर वेला

मेरी चंपा कली !
नेह से तू पली,
तुझको दुलरा पवन
गंध से भर गया,
प्राण का भार भी
मंद हो तर गया,
पीर में तू भली,
प्यार की बेकली,
जन्म जन्मांतरों का
यहां खेल है,
प्यार की ही लगन
का मधुर मेल है,
नेह से तू पली
मेरी चंपा कली !

नींद की नील सी
गंधमय वालुका,
स्वप्न का सिंधु है
तीर जिसके रुका,
तू न उससे छली
पंथ अपने चली,
खेल ले प्यार से
चाहना से भरी,

फूल बनकर बगर
रूप-श्री की तरी !
नेह से तू पली,
मेरी चंपा कली !

दो बादलों के बीच

अरे अनंत काल ! तू आजा मेरे
पार्थिव तन में आ निवास कर, एक अमर-सी
ज्वाला बनकर मुझमें पुर जा और मुझे तू
अपने रूप-विस्मरण में ही पलने दे, मत रोक सलोने।

प्रकृति पुरुष जागृत हो मुझमें भर दें फिर से
दिव्य-ज्योति की अमर वासना क्योंकि यहाँ पर
सकल प्रभाएँ बढ़ती रेखाओं में ही
निर्वाण खोजतीं बिना झिझक के।

हमें सदा लालसा लगी रहती है मन में
मधुर दिनों की किंतु कभी वे नहीं लौटते
उन मेघों की प्रिय रिमझिम से
जो मोरों को मैदानों में हरियाली में
पुलकित करते।

याद एक शीतल बयार-सी होती प्यारी
जिसमें गर्जन की थपेड़ दुबकी रहती है।
अपने भीतर लिए बिजलियों के प्रकाश को
और अरुक उड़ती सुगंध है
दुख सी व्याप्ता।

यायावर बादल उन्मत्त नदी से कुछ कानों में
कहता जिसको सुनकर गगन अवनि हर्षित होते हैं अपने

मन के अंदर तक की तहें पा रहे भींगी-सी यों कहते
घन से—अरे डाल दे ला सब कुछ हममें ही अपना
पूर्ण वेग से, हम दोनों पीलें तुझको बन कर
नीलम छाया के वन-से,

अपनी बिजली की रेशमी कशा से हमको मार क्योंकि है
आग आग में से ही पलती जिससे फिर-फिर आस निखरती
शांत और निस्तब्ध मधुरतम।

दूब कह रही : मेरे वादल, मुझको सबने
अपने पाँवों से कुचला है और धूलि में धूलि वनी मैं
लुप्त हो गई दीना-सी ही,
तू आया जीवनदाता ! तो देख ! तोड़कर
पृथ्वी की जंजीरें मैं फिर तुझे देखने ऊपर आई
क्योंकि वहुत गहरी हैं मेरी जड़ें दूर तक,
भले परीक्षा लेने को तू गरज ! देख मैं मृदु तानों से
तेरे स्वर को दुलराऊँगी।

मैं अपने तन में काला हूँ भले दीखता
किंतु गीत मेरा उजला है, पाँखी जैसा
उड़ने की चेष्टा करता है और शेष पर
पीड़ा की छाया गिरती है।
हाँ, सदियों का प्यार और फूटते पात का क्षण-भर,
दोनों जब मिल जाते—
एक अकह आनंद तृप्ति में घुलते-घुलते, शाश्वत होकर
तब वसंत-सा छा जाता है, हर ऋतु में बोता है वह
नूतन पीड़ाएँ, जिन पर वश न किसी का चलता
और सुकोमल मधुर रागिणी दुख-विहीन-वंशी से
निस्सृत होकर भी तो काँटे-सी गड़ती जाती है।

सब कुछ धोखा दे जाता है किंतु न आशा बाँह छोड़ती
वह तो जैसे जीवन-तरु की जड़ में ही जाकर रहती है माता जैसी

स्वर्ग-शक्ति-सी एक अनंत मधुर व्यापक संगीत सदृश ही
संघर्षों की अखिल निरंतरता में निशिदिन गूंजा करती।
नींद शांति देती है धीमी जैसे मीठी
ज्योति कठोर तिमिर में घुलती
एक मोमबत्ती-सी जलती अपनी किरणें
प्रतिध्वनित कर नीरवता की गहराई में।

कब आलोकित तपस जगेगा
अभी अजन्मे का जो मुझमें।
फिर से अपनी ज्योति भीतरी जागृत करके
सबको ही विभवान्वित-सा
सुंदर कर देगा ?

आस्था का कफन

पंथी थक पाँव गये जीवन पथ चलते,
कैसे हैं स्वप्न मधुर तेरे मन पलते।
मंजिल है दूर कहाँ, प्यासे क्यों छलतीं ?
पगले ! क्यों आँखें यों पीड़ा में गलतीं ?

कवीन्द्र के प्रति

किसने शाश्वत फूलों के अनमोल हास को
बाँध दिया व्याकुल माटी में···
किसने आकाशों के स्तर को
संध्या उषा की पलकों से
छीन, भूमि के मधु स्वप्नों में
स्वयं पो दिया···
किसने तीनों कालों में पीड़ित मानव की
आर्त पुकारों का बँट-बँट करके बाती-सा
अपने मन के अमल स्नेह में भिगो-भिगो कर
अंधकार से लड़ने को प्रज्वलित कर दिया···
किसने कृत्रिम बंधों में से अनावरण कर
सुंदरता को मान सिखाया निज गरिमा का···
किसने मेघों के उद्दाम स्फुरित यौवन को
तरुणों को धमनी में लाकर लहू कर दिया···
कौन अकेला ही पुकारने का साहस कर
चला पंथ पर···
किसके मन की आँखें लोहू के आँसू की
धारा बहा-बहा रोती थीं···
अरे वासना थी किसकी जो बजी मुखर हो
इस त्रिभुवन में···
जो विराट बनकर प्रभात का गान बन गया
उस लघुता की ममता का करता मैं वंदन,
जिसका स्नेह सिंधु-सा मेघों को देता है
उस महान के मृदुल स्वरों को शत अभिनंदन !

चमकीले अँधियारे के क्षण

[1]

सारी रैन कगारा गूँजा, गूँजी वहती धारा,
करुण क्रंदनों से विदीर्ण हो काँप उठा अँधियारा,
चक्रवाक देता विपण्ण मन आकुल आहत फेरी,
अंतराल की लहरें उसने रह-रह विह्वल टेरी,
किंतु प्रतिध्वनि गूँजी उसकी दिशा-दिशा में हारी
फिर भी शृंखल क्रूर नियति की कटी न तृष्णा खोई,
थक कर गिरा, किरण-सी डूबी, अंत निकट हो आया
जीवन में प्रिय मिलन, स्वप्न की ममता जैसे रोई।
देखा तव ही उड़ आई थी
चकवी पर फैलाये,
सबकी ही अँधियारी कटती
जब प्रभात हो जाए!

[2]

दिन-भर बाद लौटते थे सब, थका अकेला हारा
हाय रह गया अब तो पीछे कितना तू बेचारा,
क्या होगा तुझ संगहीन का कैसे घर पहुँचेगा,
आशा में बैठी विहगी का मन क्या इसे सहेगा?
अँधियारा उतरा तरुओं पर नीचे है जलधारा,
विजन व्योम में भला आज तक किसको मिला सहारा?
पंखों के बल पर ही क्या तू उड़ा अगम को लाँघे?
किंतु शून्य की तृष्णा किसको हाथ बढ़ाकर साँधे?

दिशा भूल जो बिछुड़ गया तू फिर उड़ ध्यान लगाए,
नाप-नाप आकाश, चला तू पंख कि मंज़िल पाए !

[3]

हाय क्या मेरे लिए अब कुछ नहीं है शेष ?
कौन-सा दिन था कि तुझको देख मेरे स्पंद जागे,
मैं खड़ी मुस्का गई, तू लाज से आया न आगे,
और यह दिन है कि मेरे लुट गए सब वेश !

आज बादल ढीठ नभ में देख तो कंकण बजाता
दामिनी को गुदगुदाकर हाय है कैसे रिझाता,
वासना जा दूर, मुझको सब हुआ निःशेष,

हाँ न जाने विकल कितने बीत यों युग-युग गए हैं,
आँसुओं से क्या गिनूँ मैं आज वे ही घुल गए हैं,
कल्प बन कर बीतता है एक-एक निमेष,

गूँथ जिनमें फूल तू था स्नेह अपना वार देता,
मैं उन्हें रूखा रुलाऊँगी, यही मन शाप देता,
चाँदनी के नाग हैं मेरे खुले ये केश,

आयु के पुल पर कहाता साँस का आवागमन है,
किंतु क्या इस साँस के बल पर कभी पलता मरण है ?
कौन ऐसा न्याय करके बन गया अखिलेश !

किंतु जीवन तो अनेकों स्पंदनों की चेतना है,
भूल मैं हूँ क्यों गई जीवित अभी संवेदना है ?
आदि बन जाते सदा हैं अंत के परिवेश !

[4]

मेरे गहन अँधियार भीगे हृदय की
ओ टिमटिमाती तारिके !

कहते सभी हैं, खेल होता है मिलन
पर विरह में चुभते हृदय में शूल हैं,
यह क्यों न कहते सबकि कसकन प्यार की
बनती किसी दिन अंत में तो फूल हैं।

बरसात आँखों में लिए, मधु प्राण में,
पतझार ममता बन गया है दीन-सी,
मैं भी किनारा हूँ नदी का दूसरा
कब तक कटूँ मैं धार में ही लीन-सी ?

तू बोल मैं भी साथ में तेरे चलूँ
मेरे प्रणय की चारिके !

[5]

साँझ के बादल न जाने किसलिए
जामुनी बन आप ही मुरझा गए ?
कमल सा नभ हो गया सूना मलिन
रात अलि-सी उड़ चली चुपचाप-सी,
आँसुओं में भर रही इतिहास को
युग-प्रलय के सर्वव्यापी श्वास-सी,

वेदना के गीर मेरे आप ही
पाश मेरे अंत में मुरझा गये।

[6]

गूँज मुरलिया गूँज बहा दे वह स्वर्णिम झंकार
कि मेरा तन-मन नाचे,
रीझ-रीझ कर ऐसा अगजग चढ़े नशीला ज्वार
कि मेरा कन-कन नाचे !
थकी हुई हूँ गृहबंधन में, भर नव चेतन प्राण,
कि मैं पीड़ा से खेलूं,
तेरे सिरजन के पथ के वे दुर्वह दुर्दम शूल
सभी में हँस-हँस झेलूं !
ओ मधुवन के रसिया ! ऐसी भर दे नूतन शक्ति,
कि मैं सारा भय खोऊँ,
अब तक तुझसे दूर, बनूं अब मैं तो तेरी प्राण
कि मैं-तू एक सँजोऊँ !

शास्त्रार्थ में समर्पण

जो शुद्ध कर दे जल बिना
ऐसा मसीहा कौन है ?
वह सत्य है ! चिर साधना !!
जो ज्योति दे ज्वाला बिना
ऐसा मसीहा कौन है ?
वह रूप है ! निष्कामना !!
जो प्राण दे जीवन बिना
ऐसा मसीहा कौन है ?
वह कीर्ति है ! नीराजना !!
जो तृप्ति दे सब छीनकर
ऐसा मसीहा कौन है ?
वह त्याग है ! आराधना !!
जो जीत ले सब हार कर
ऐसा मसीहा कौन है ?
वह प्रेम है ! निर्वासना !!

घर लौटने पर माँ नहीं

साँझ हो गई,
छायाएँ झुककर थक गईं,
मंदिम समीर मेरी आशंका-सा वह रहा है,
मीठी-मीठी यादें मन में जाग्रत होकर
नतशीश मुखरित प्रणाम कर रही हैं।
दूरी के लंगर उठ गए हैं,
अचानक पोत खुल गए हैं,
प्लावन पर गति का वेग थम
नहीं पा रहा है।

कितने दिन के बाद
आज घर लौटकर आया हूँ,
एक वह दिन अपना था
या यह दिन मेरा अपना लग रहा है
जैसे ढलती धूप को सूरजमुखी से
अपनापा जुड़ा-सा लगता है,
भार जब क्षीण हो जाते हैं
तब सहारों की मँझधारें
सृजन के कूल ढूँढ़ने लगती हैं।

याद की बहुरंगी कलियाँ
अपनी पंखुरियाँ खोलकर मुस्करा रही हैं,
दुलारों-भरी कल्पना तितली बनकर उड़ती है,

स्नेह-रश्मि की हेमतरी आशा रंजित हो उठती है,
स्वप्न लहरियों की माया इंद्रधनुषों की-सी
चंचल छाया बुन रही है।
लगता है मरु-पंथी किसी नंदन में आ गया है,
मधुमय कलरव के स्पंदन में विकृतियाँ
लय होती जा रही हैं।

मैं जान पाया हूँ,
स्वरों के स्तरों में से स्वर ही निकलते हैं,
सुन्दर दिन मन के भीतर रहते हैं
केवल स्मृतियों के रूप में।
और अपने को वे सौ-सौ संघर्षणों में भी
बचाकर रखते हैं
अपनी कसकन भरकर वे जीवन-भर छलते हैं
आयु एक शुष्क विजन चट्टान-सा बनाती जाती है,
किन्तु वे प्यारे दिन
झरनों की तरह कल-कल निनाद करते हुए
पथरीली तहों के नीचे भी बहते रहते हैं।

मेरे मानस की उत्कंठा आतुर होकर
दीपशिखा-सी अकुलाती है,
प्राणों में चंचल मनुहारें खेलती हैं,
मन में जब प्यार मचलता है
तब उद्वेग बार-बार बलैया-सी लेने लगता है।

माँ! मैं फिर घर लौटकर आ रहा हूँ,
तेरी बाट-जोहती आँखों की सारी आशा के रूप में
मैं अपने आप को समेट लाया हूँ,
आशीर्वाद दे माँ! नतमाथ मैं सौ-सौ वन्दना करता हूँ,
जिस ममता के साथ गया था उसी के हाथ मैं बिक गया हूँ
माँ? मैं तेरा वही लाल हूँ
जो किलकता-सा चिपट कर बाँहें फैलाता था,

जो सृष्टि मैंने नयी-नयी आँखों से देखी थी
जो मेरे कोमल उत्सुक प्राणों ने रूप समेटा था
उस सारे चंचल विस्मय की गाथाएँ तूने सुनी थीं,
क्या वह तेरे भूले बचपन की कहानी अपने को दुहरा गई थी ?
नमित नयना तू मीठे वयन बोलती थी,
तूने भादों की सी भरन उँडेली थी,
मूर्तिमती भक्ति-सी तूने मुझे कितना अनाविल स्नेह दिया था !
मैं तेरे ही वरदानों का धवल फूल हूँ,
तेरी लोरी में ही मेरे यश का मूल उत्स है,
तेरे स्नेह दुलार-भरे नयन ही साँझ सकारे मेरे संबल थे,
जैसे वर्षा से धुले गगन में स्मृति के उज्ज्वल तारा हों,
चट्टानों से मुझे बचाकर तू ज्योति-स्तंभ-सी पंथ दिखाती थी,
माँ ! मेरा तोल इस युग से न कर,
मैं शाश्वत तक तेरा पुत्र हूँ।
बाहर मुझमें तेरी सहज सरलता नहीं रहती,
सबके जीवन की छलना है कि सबको काम से काम हो गया है,
यहाँ हम छीनकर प्राप्त करते हैं,
अपना तनिक नही देते,
अपने वे पूर्वज ही अच्छे थे,
जिन्हें नरक सदैव डराता था,
फिर भी उन्होंने ही स्वर्ग का निर्माण किया था,
और हम जो नरक को नहीं मानते
हमारे स्वर्ग भी खंडहर हैं।

माँ ! तेरा चंदा घर आ गया है
लेकिन तेरे सिंधु से मन में लहर नही उठी,
आज हम कृत्रिमता में रहते हैं,
जहाँ मुस्कान भी अहसान बनती है,
माँ ! तू कहाँ चली गई है जो अब नही आती ?
क्या अब तुझे मुझसे कुछ पूछना नहीं है ?
पग-पग पर ठोकर खाकर जो जीवित हूँ
वह इसीलिए तो कि कहीं एक प्यार-भरा हृदय है।

उसीके सहारे तो यह संग्राम चल रहा है।
जीवन से उदात्त खो गया है,
हम लघुता को ढोते हैं,
हमने सब कुछ से समझौता करके सबके
अभिशापों को ले लिया है,
क्योंकि हमारी आस्था उस आँचल में नहीं रही,
हृदय को जहाँ विश्राम मिलता है,
अब केवल तिनके-सा बहना और बहकर गलना बचा है,
संबल खो जाने पर सब अपने संबल बनते हैं,
सब कुछ देकर सुख पानेवाले हृदय को
मैं नमस्कार करता हूँ,
तट से तट पास लगता है, धारा तो बीच में उतरकर नपती है
जहाँ हमें डूबने का डर होता है,
वही किनारा प्यारा लगने लगता है,
लेकिन माँ ! तू कहाँ है कि मेरे काँटा चुभने पर
तेरी लहू की धारा बह आती थी ?

घर आकर स्मृति में

मरुद्गण, पूषा, अग्नि, बृहस्पति,
प्रजा और धन से सींच कर
तुमने मेरे पूर्वजों को
दीर्घायुष किया था,
हे आदित्य, इन्द्र और देवताओ
अप्सरा, गन्धर्वो,
तब तुम सामने आते थे
वरदान देने को,
अब मैं द्युलोक, अंतरिक्ष और पृथ्वी से
माँगता हूँ बार-बार,
दिशा-प्रदिशाएँ सब देखती रहती हैं,
कृषि से उत्पन्न धान्य, औषधियाँ वन की
बहुत स्नेह देती हैं,
नदियाँ, सिंधु, पर्वत सब सेवा में
रहते हैं,
सहस्राक्ष, शतधार, ऋषियों ने
जिसको पावन किया
वही सोम पवमान देता है मुझको भी,
होते पुनीत चंद्र नक्षत्र उससे पर
मैं तो भूत-सृष्टि में घिरा सा रह जाता हूँ।
कहता हूँ प्राणों से
अंतराल, सूर्य, चंद्र, रात, द्यौस,
धनु वृषभ, मित्र वरुण, वायु और द्यावा सब

क्षय-भय से दूर हो अदीन और
निर्भय-से रहते हैं,
वैसे ही तू भी रह !
ब्रह्म और इंद्रियाँ, अपान, व्यान,
वीर्य और मृत्यु भी अभीत यहाँ रहते हैं,
भूत भव्य, सत्य और अनृत सभी अभीत,
उल्टा अश्वत्थ भी न भीत होता।
तुझको क्यों होता भय ?

आते थे ऋषि वे घर
मेधावी, हर्षित मन, ऊर्ज्जस्वित शक्ति लिए
कल्याण मैत्री युक्त लोचन ले
मीठी आशाएँ भर, रस पाते पुलक लिए
सुख पाते, भरपूर धान्य घी दूध और रूपवन्त
सुहृदप्रिय लोगों से कलरवमय निज घर में,
विधि का सौभाग्य वहाँ पलता था शिष्टता में
प्रीति भोजों की उठती थी गूँज मुखर,
घरों में दुधारी गायें, बकरियाँ थीं,
नीरोग सब मिलकर खाते-पीते आमोद मनाते थे,
कोई घर में भूखा नहीं रहता था…

मैं भी घर आया हूँ,
निश्चय यह मेरा ही घर है,
इसके अक्षय स्नेह बदले नहीं है,
इसी की धूलि मेरे तन में लगी है,
सारे संसार में यहीं अपनी इकाई लगती है,
सुख-दुख की प्रतीति के सारे तार यही बजते हैं,
शैशव अथाह-से में पड़ा हुआ यहीं स्वप्नों का
निर्माण करता था,
उस समय लाड से उसे निबाहने वाले भी थे,
सारी रात दीपक ज्योति ढाल कर अँधेरे को गँसा करते थे,
और कभी कभी मेरी थाली में बैठ कर चन्दा मामा हँसते थे,

अवकाश भरी सी सुधिभीनी पूनम वेला हँसती थी,
इसके कण-कण को मेरे मधुर विकास ने भिगो दिया था,
यहाँ आने को सागर लाँघना और गगन नापना भी
भारी लगता नहीं था,
वनों को मैंने मुरली बनाकर बजाया था,
स्वजन मेरे इंद्रधनुप थे, और यह द्वार उनसे शोभित था,
मैं कितनी चाहना से इस ठौर को अपनी कहता था,
फूल वनी उपा और सध्या इसकी देहली पर चढ़ती थीं,
राष्ट्र, धर्म, संस्कृति और अध्यात्म का यहीं
जयशाली अंकुर पड़ा था,
स्मृति के आकाश में इसी जलधर को देखकर
विहंगम सा मन पुलकित होता था,
यह आर्द्र विसुध मृण्मय जीवन
कुछ भी प्रतिदान नहीं लेता,
सृजन के समस्त त्यागों का इसे तनिक भी
अभिमान नहीं होता
ऐसी ही सिंधु और आकाश सी अनाधता
मेरी माँ में भी थी,
वसुंधरा की जीवंती क्षमा ने मुझे मानों
लोरियाँ सुनाकर पाला था,
ममता के अक्षय प्रपात के मैंने यहीं दर्शन किए थे,
अमृत बनकर वरदानों की भाँति हलाहल यहीं जीवित रहे थे,
ममता के अजर लास ने यहीं मृत्यु पर शासन किया था ?
गौरव के इस अमर अधिवास पर
प्रतिदिन स्वर्ग न्योछावर होते थे,
मानवता के इस पालने के सामने
विधाता का भाल भी झुक गया था;

अरे धुँधुआते सपनो, तुम क्या मेरे भीतर समा पाओगे ?
रेती सी मन पर फिरती है और आकाश काँच सा झरता है,

अपनी यह मिठास निठुर नियति में केवल छलना है,
बस अनन्त तक कातर होकर चिल्लाते हुए
रोते रहना ही हमारा काम है,
विजन के पैंने दाँत पर पिघले हुए सीसे सा मौन जम गया है।

प्रेत मुटाते जाते हैं

अरे अंबर के निष्ठुर अधिवासी।
तूने मुझे प्रवासी ही क्यों नहीं बनाये रखा ?
क्या अब मैं कछुए की मोटी खाल में से
फूलों की आकृतियाँ काटकर
गुलदस्ते सजाऊँ ?
मौत का व्यापारी भी हट गया दिवालिया होकर
मानव क्या इतने सस्ते हो गए हैं ?
भूमि ! तू प्राणों की रक्षा करने वाली कहाती है,
किंतु तू तो सर्वभक्षिणी है।
तू चटक कर टूट क्यों नहीं जाती ?
जादूगरनी ! तू यह माटी का जाल बिछाये बैठी है,
लेकिन जब माटी का लौंदा असीस बनने लगता है,
तब ही तू उसे मिटा देती है।
मेरी तो कोई भी पहेली नहीं सुलझती
कोई नहीं जानता कि मेरी आशंका बार बार
उठ-उठ कर रोती है,
जैसे अपार-जल में रंग-बिरंगे बुलबुले फटते हैं,
किंतु एक कंकड़ के भी गिरते ही
लहरियाँ रुकतीं नहीं, प्रसार हिलने लगता है।

इस ग्रीष्म में आग लगाकर
इस प्यासी लू को डरावने हिंस्र जंतु सा बना दो,
यह सारी उपलब्धि बंजर पर सिर धुनते हुए

एक बीज की तरह है
यह धूप से भी रस नहीं ले पाता,
और यदि यह देह त्यागता है तो लोहे की अनी उगती है;

मैं चाहता हूँ कि वर्षा की बिजली इतनी कड़क कर गिरे
कि यह पृथ्वी पिघली-पिघली-सी बह जाये,
यहाँ शव हैं, हत्या और निर्दयता है,
एक भ्रममय कठोर शृंखला से सब बँधा हुआ है,
इस कठोर दुर्गंधि की धाराएँ बहा नहीं पा रही हैं।
शरद धुएँ सी काली हो गई है,
चाँदनी साँपिन सी विष उगलती है मेरे लिए,
सभ्यता को किराये पर हत्यारे मिल जाते हैं,
इस आडम्बर को निगलते हुए नरक भी डरते हैं।
तुहिन वही हेमंत वज्र सी ठिठुरती है,
लाखों वरसों की मांसलता भीख माँग कर हाहाकार कर
रही है,
अपनी ही स्मृतियों को खा-खाकर हमारे
प्रेत मुटाते जाते हैं।
शिशिर भुजंगम सा श्वास लेकर
सूरज और चन्दा को पक्षियों की भाँति निगल सकता है,
दूब सी दृढ़ है यह जिजीविषा
लेकिन उसमें भी खाइयाँ खुद रही है,
और हम उनमें झहराती लपटों के बीच
बन्दी बन गए हैं।

कौन है वह

नीलम गिरि की मेघवर्णा माटी को खोदने पर
यदि किसी को बिजलियों के झुलसाते टुकड़े
मिलें तो उसका क्या हो ?
इसी वृक्ष पर मोर बैठता था,
यहीं गायें जुगाली करती-करती अलसा जाती थीं,
जब विधाता रुद्र बन जाता है
तब काल अपने आपको खाने लगता है,
जन्म को मृत्यु चबाती है तो इतिहास आँसू में आ जाता है,
उधर पाठशाला से बच्चों का स्वर आया करता था,
फलों भरे वृक्षों-से बूढ़े लोग यही जीवन के अनुभवों को लुटाते थे,
और यहीं रमणियों का कलकंठ संगीत
मधुमय वन को भी भ्रम में डाल देता था,
किंतु अब निर्बल क्षितिज विधवा की चूड़ी-सा
टूट पड़ा है,
यहीं मनुष्य का श्रम धरती से श्यामल-कंचन उगाता था,
हम लोग महाकाल की परती से
जीवन के अंकुर बनकर फूट निकले थे,
वह कौन है जो हमें परवश बनाता है,
कौन है वह जो हमें ऐसा सताता है कि हम
अपने को नहीं चाहते ?
कौन जानता था कि जहाँ गिलहरी
पूँछ उठा कर दाना कुतरा करती थी,
मृत्यु उसे डंसने को पास ही मंडरा रही थी,

अरी स्मृतियो ? तुम्हें विषैली मकड़ियों की तरह
जाला उगलने में क्या मिल जाता है ?
इस कंजूस दुख से उधार माँगने पर
कोई इसके चक्र ब्याज से मुक्त हो सका है ?

उलट दूँ इस चलते हुए चाक को ?

प्यार का रुपहला गीत वेदना का आधार है,
किंतु अपनी आँखों का पानी कभी आरसी नहीं बनता,
अरे नभ के प्रहरी ! तू क्यों नहीं बोलता ?
अँधियारी रोती है कि पंथ नहीं खोज पाती,
और नीरवता महावृक्ष-सी फैलती है ।

यह जीवन भी कैसा वस्त्र है, जिस पर मृत्यु की सींवन पड़ी है,
अपने प्रियजन के प्रति हमारे मन में कितनी शंका होती है,
हमारा गिरिवत् ज्ञान भी पंखिल भय के स्पर्श से
काँपने लगता है ।
इस सत्ता के बाहर कौन-सा सत्य है ।
पहले उज्ज्वल फिर जर्जर होती जाती देह की
वास्तविकता हमें कितना बहकाती है ?
विवेक यथार्थ का खंडन तो झेल लेता है,
परन्तु कल्पित विपदा अपने आपको नहीं झेल पाती ।

अरी अमरते !
तूने ठोकर खाई है तो किसे मुँह चिढ़ा रही है ?
मनु ने दीप जलाया था,
परन्तु हम उसमें स्नेह नहीं डाल सके,
श्रद्धा जननी उसे जलाती तो है,
परन्तु हम उसे बुझाते हुए कभी नहीं थकते ।
आओ ! जन्म का प्रायश्चित्त करो,

वह दुखमात्र है,
हमारा सुख केवल मृत्यु है,
मीठी यादों की लहरें भी मन के कगारों को ही काटती हैं,
हमारी आयु के खेत में टीसें जब नराव करती हैं,
तब वे सुख को चुन-चुनकर व्यर्थ समझ कर
बाहर फेंक देती हैं।

हमने अपने दुरभिमान के दर्पणों में अपना
मुख देखा है,
इस मधु के माटी के घटों को तोड़ दो,
छोड़ दो उलट कर इस चलते हुए चाक को,
सारा जीवन ठठरी का छल है,
मैं किस मंजिल को अपना लक्ष्य बनाऊँ ?
इस मांस की ऊष्मा का कितना विश्वास हो सकता है,
इसे भस्म होते हुए देर ही कहाँ लगती है ?
पर दुःख चाहों में पलता है,
हम जिस परिवर्तन को सागर समझते हैं,
वह केवल मन की गागर का छलकना है।

सम्बन्धों की टूटती पालकी में स्नेह-वधू नही चलती,
अपनी सारी उन्नतियों की मीनारों को
यह दंत विहीना धरती ऋतुओं के दाँतों से
चबा जाती है।

मातृदाह

[जगद्‌गुरु शंकराचार्य का जन्म कालदी ग्राम, केरल (मलाबार) में हुआ था। कहते हैं उन्हें नदी में स्नान करते समय एक ग्राह ने पकड लिया, तब माता से उन्होंने संन्यास लेने की आज्ञा प्राप्त करके अपने को ग्राह से छुड़ा लिया और संन्यासी हो गये। जाते समय माँ से कह गये कि उसके अंतिम समय में आ जायेंगे और उसका दाह-संस्कार करेंगे।

नारियलों के देश केरल के ब्राह्मण शंकर से क्रुद्ध थे, क्योंकि जगद्‌गुरु के वचनों में ब्राह्मण समाज पर व्यंग्य होता था। गृहस्थाश्रम में न रह कर ब्रह्मचर्य के बाद संन्यास लेना भी समाज ठीक नही मानता था।

जब शंकर की माता का देहांत हुआ तो नाम्बूद्री ब्राह्मण उनके पास न आये। शंकर को मजबूर होकर अकेले ही माता का दाह-संस्कार करना पड़ा। माता का भारी शव वे नही उठा सके, इसलिए उन्होने शव के तीन टुकड़े किये और तीन बार दाह-क्रिया की। आज भी नाम्बूद्री ब्राह्मण घर के आगे ही शव जलाते हैं। इसे शंकर का शाप माना जाता है। सम्भवत: उस समय जो समाज का अत्याचार हुआ था, उसी के प्रायश्चित्त स्वरूप नाम्बूद्रियो मे यह परंपरा चल पड़ी होगी।

मैंने इसी कथा को यहाँ अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।]

हो गया गगन धूसर,
लौटे नीड़ाकुल विहग,
सांध्यतारा झिलमिल,
तब नारिकेल-कुन्जों में गूंजे शब्द-करुण :
आगया सलोना मेरा ? घर आ जा बेटा,
थक गए नयन जोहते बाट,
जीवन-विंध्याचल को करने अब नमित-भाल

आ रहा काल-कुंभज है धरता चरण-धीर,
अंतिम वेला आ टकराई···

आया न अभी देदीप्यमान मेरा संन्यासी मेधावी,
बोलता नहीं कोई मुझसे, मैं पड़ी अकेली ही वृद्धा,
कालदी ग्राम के ब्राह्मण हैं सब खड़े दूर
मैं हूँ हिरण्यगर्भा ज्यों वे सब केवल जीर्ण तंतु,
गार्हस्थाश्रम को छोड़ हुआ जो संन्यासी
उसकी माता के आयें वे कैसे समीप ?
सागर में रहने की वेला में बादल बन
उड़ गया गगन में वह क्यों सबको छोड़ दूर ?

बेटा ! कहते हैं वे तुझको तो विद्रोही और मार्गभ्रष्ट,
प्रच्छन्न बौद्ध तू, फेंक दिया कंधे से यों यज्ञोपवीत,
वे चिढ़ते हैं जब तू कहता
ब्राह्मण औ कुत्ते की आत्माएँ हैं समान···
अब मरती है तेरी माता···
पर मुझे नहीं उस पर कोई भी रोष शेष,
वह मेरा सुत !
हिमगिरि के उन्नत शिखरों तक
जिसका प्रचंड गौरव के हरि सा रहा गूँज,
केरल से उठ वह लघु-स्फुलिंग सा गया फैल
अज्ञान-तिमिर को जला रहा
है ज्वालाओं सा फूट-फूट !

उस दिन उसको ग्रस लिया विपुल जल लहरों में
दुर्दांत ग्राह ने दाढ़ खोल,
देखा मैंने···
चिल्ला कर ही रुंध गई आंख के आंसू सी···
पर मुक्त मृत्यु के मुख में से कर सकी नहीं···
औ' वह अम्लान वदन निर्भय
मुझसे उस क्षण भी यों बोला—

माँ ! ममता के बंधन के प्रति
निरपेक्ष काल चलता कठोर,
यह ग्राह नहीं है मृत्यु, मृत्यु
इसकी भी है, वह है अछोर,
भय दुख है, दुख परवशता,
'मैं' की लघुता है एक पाश,
जल, ग्राह, जननि, सुत सब बहते,
तम भेद, हृदय में भर प्रकाश !

देखा मैंने
तब छूट आ गया वह प्रवीर,
बहता था जल, हँसता था सुत,
मेरी ममता थी चकित त्रस्त,
बोला मुझसे—
अब भी इस जल में छिपा हुआ है काल-ग्राह,
सर्वत्र सर्वदा है वह सबमें विविध रूप,
क्षण की विस्मृति में डूब न तू
कल्पों में जागृत रह अभीत,
हे जननि ! व्यर्थ मत कर विलंब अब जाने दे,
संसार पड़ा है अंधकार में जीर्ण-शीर्ण,
सोये प्राणों की ईंधन-सी यह राशि पड़ी
मैं जलूँ और धधका दूँ इसको
अग्निहोत्र-सा पाप-हीन,
यह काल-ग्राह मुँह बाये सबको ग्रसता है,
आज्ञा दे माँ···तूने पाला···तू मातृदेव···
यदि तुझे दुःख देता हूँ मैं
साधना सकल मेरी निष्फल···

मैं कह न सकी, वह फिर बोला :
माँ ! आहुति दे ! जननी ! अब उठ !
तू जगदम्बा ! दिक्काल चल रहा
तेरी ही करुणा से यह···

मैं रोक न पाई उसे लोक के हित अपने को दे देते,
वह चला गया…

पर
उसने यह भी तो था मुझसे कहा :
अम्ब ?
जब तू जायेगी…आऊंगा…
संन्यासी होकर भी जननी
तेरे हित तो मैं आऊंगा…

अब
मरण सिंधु-सा टकराता है,
नही देर,
जर्जर है यह जीवन-कछार…
आजा बेटा…
मैं यहाँ अकेली पड़ी हुई…
……
……
आ गया पुत्र…?

हो गई शांति,
आई न और कोई पुकार,
बस नारियलों को पत्तों के पीछे पीला
चंदा अँधियारा बढ़ा रहा-सा
चमक उठा…

सूखे पत्तों पर चरमर-सी गूँजी धीरे,
फिर आई धीरे…और पास…
देखा सबने उपहासपूर्ण—
संन्यासी था !!
बोला कोई भी नहीं,
घृणा के कोने होठों को सूखे
पत्तों जैसा कुछ गये मोड़,

ज्यों ज्योतिकिरण को देख अकेला
दिकदिक के
अँधियारों में भर गया नया ही
अहंकार।

धर शांत चरण,
वह भव्य भाल,
ज्योतित उल्का-सा गया गेह के द्वार और
देखा उसने······

जाकर समीप छू लिए पाँव,
बोला धीरे :
सो गई जननि ?
हो गई देर मुझको ? आ पाया नहीं पास ?
माँ ! मेरा क्या ?
पर माँ ! मैं तो सबके हित हूँ···
संन्यासी को दे जन्म तुझे सुख तो न मिला ?
तेरा सुत मैं···
शिव का केवल हूँ लघु प्रसाद···
ले पीले तू,
मैं ले आया तेरे हित ही
भगवति गंगा का पावन जल······

शव के मुख में दो बूँद डाल बाहर आया,
समुदाय खड़ा था रहा देख,
बोला संन्यासी :
आयें अब, वह नहीं रही······
कहते-कहते रुँध गया कंठ,
संन्यासी ममता को न प्रगट कर जाये—
मर्यादा जागी—
मन का आँसू
पलकों में झलका नहीं किंतु

पर बढ़ा नहीं कोई आगे,
फूत्कार सर्प-सा फैल गया :
नास्तिक की माँ !
वह पाप गर्भ जिसमें से तू
जन्मा है भीषण कुलाङ्गार !
तू जिस समाज को कहता था
कलुपित स्वार्थी······
जिसकी अखंड मर्यादा की
प्राचीरें तू था ढहा गया
तू समझ घरौंदा मार लात···
अब वह आये ?
तू तोड़ सनातन रीति गया संकोचहीन !!

नीरव निशीथ में हरियाली हो गई और भी काली-सी,
नतग्रीव सोचता रहा मूक संन्यासी तब······
फिर उठा शीश, बोला पुकार :
माँ ! सुनती है ?
क्या है यह पावन भूमि वही
जिसमें खेले थे रामकृष्ण ?
क्या यहीं कुमारिल जले
तुपानल में अभीत ?
क्या यहीं भारती-मंडन का
गूँजता नाद ?
आसेतु हिमालय यहीं धर्म का
उठता था संगीत मधुर ?

ले गये मरुद्गण श्वास,
ले गया यम दुरंत है साथ जीव,
मिल गई अग्नि में अग्नि,
रह गया स्थूल रूप···
मेरे कार्य्यों का बदला ये
लेते हैं तुझसे माँ ! अम्बे !

रोया संन्यासी बैठ गया,
समुदाय व्यंग से हँसा क्रूर।

फिर उठा धीर,
बोला : माँ ! विचलित हुआ आज संन्यासी यह······
इसलिए कि तू मर गई आज ?
इसलिए नहीं······
इसलिए कि इतना अंधकार है अभी शेष
इसलिए कि इतना रूढ़िग्रस्त है अहंकार
इसलिए कि यह जो छलना है—
साकार दृश्य,
इसके पीछे के महासत्य को भूल लोक
केवल चलता है लीकों पर···
इसलिए आज आँसू आये इन नयनों में···
ओ माँ ! माटी ! मत डर ! मैं हूँ···
कोई न सही···
पर मैं तो हूँ···

समुदाय हँसा।
बोला संन्यासी : हँसा और···
मैं स्वयं करूँगा मातृदाह···
यह जन्म मृत्यु हैं खेल किंतु इनसे ऊपर
है करुणा की ही मधुर जग रही दिव्यज्योति !
ओ व्यापक नीलम गहन व्योम !
अतलांत महासागर अगाध !
मैं आज शाप देता हूँ इनको उठा हाथ···

सहसा वह ठिठका
और नमित शिर उठा बोल :
माँ ! नहीं, नहीं,
है नहीं भूल के ति ाकरण का मार्ग-भूल,
मैं इनके उस अज्ञान-तिमिर को खोऊँगा···

अब मेरी माँ तो चली गई···
कुछ नहीं शेष···
पर पंचतत्त्व को पंचतत्त्व में मिलना है···

सहसा ही वह हँस उठा मंद,
शव को उसने
अपने कंधे पर उठा लिया
औ' चला शांत,
भारी था शव,
धर दिया भूमि पर वहीं
और
बोला : माँ ! धरती से जन्मी
फिर तू आई है धरती पर···
अब तुझे चिता पर धरना है···
वह गया
और घर में से वह सारा बटोर लाया ईंधन—
सब अन्न और सामान सभी,
धर दिया चिता की भाँति उसे
था अविश्रांत···
फिर लाया वह तलवार एक
उस घर में से,
देखता रहा समुदाय क्षुब्ध···
बोला संन्यासी : आओ अब, आगे आओ···
जिसमें साहस हो बढ़ आए···

सब रहे देखते अचरज से,
तब संन्यासी फिर उठा बोल :
ओ नील गगन ! ओ अंधकार !
हे पवन ! गुप्त वैश्वानर ! ओ सत्ता विराट !
ये देख रहे हो शीश जननि का ?
करुण हास
जिस पर अब भी

है खिला कुसुम सा क्षमावंत ?
यह शिव है···
इसमें शिवा साथ में रहती थी···

यह कह संन्यासी ने माँ का सिर लिया काट,
फिर वेदध्वनि के साथ चला वह घोषमान,
जल उठी चिता,
वह कहता था :
ओ द्यावा ! ज्योतिष्मंत नील !
तुझमें ही खिलते मुरझाते हैं सूर्य्य चंद्र !
हे कालानल ! दिग्व्याप्त रूप !
खा जा भक्षक ! हे हेमगर्भ !

समुदाय त्रस्त सा हटा स्तमित···
फिर संन्यासी निर्द्वन्द्व हृदय आगे आया,
काटा उसने माँ के शव को कटि के समीप,
ओ' फिर बोला :
यह परम विष्णु है पालनकर्त्ता शेषशायि !
ओ पृथिवी ! गंधवती ! गंभीर !
तुझमें ही प्राणी रूप-स्पर्श
अनुभव करते बिंबानुविम्ब !

फिर धरा चिता पर धड़ माँ का,
ओ' लौट पुनः
बोला चरणों को उठा :
यही वह ब्रह्मा है···
जो स्रष्टा है, जो आदि मूल···
ओ महासृष्टि ! ओ चिर माया !
तुझमें ही है संबंध और आसक्ति केन्द्र !
तू है सावित्री ! अदिति स्वयं !

धर दिया तीसरा टुकड़ा भी
अब चिता बीच,

बोला संन्यासी
उठा हाथ :
माँ ! अपने शिर की भस्म हेतु
जगती को दे आशीष एक,
मानव की जड़ता मिटे और
जाग्रत होवे पावन विवेक !
माँ ! अपने तन की भस्म हेतु
त्रिभुवन को दे आशीष एक,
युग युग के संस्कारों का भय
अब नये गीत की हो न टक !
माँ ! अपने चरणों की विभूति
दे जा मुझको आशीष एक,
आमरण रहूँ मैं सत्य हेतु,
है वही एक दिखता अनेक ।

जल रही चिता थी धू-धू कर,
गर्जन करता था सिंधु उधर,
धूएँ से भरता था अम्बर···
आती थी प्रतिध्वनि सी फिर फिर···
मेरा संन्यासी पुत्र आ गया है अब घर···
सारी वसुंधरा है मेरे बेटे का घर···
वह है नश्वर को जान हो गया अविनश्वर···

उड़ गये विहग
फिर करते अपना मधुर गान··
हो गया गगन भी
आलोकित भर नये प्राण···

अंतिम यात्रा में शव की साधना

अंधतम हर लो हृदय का, दूर कर लो,
जन्म-जन्मान्तर चला यह दंभ हर लो!
ग्रहों औ' उपग्रह विजन की घाटियों में
भीम वर्षा बिजलियों औ' आँधियों में
हो बहुत भटका चुके हर बार ही तुम,
कर चुके मुझको अकेला साथियों में—
रो रहे हैं जो उन्हीं में प्यार भर लो!

विस्मरण के पर्वतों से घिर चुका चल,
बन रहा अनजान कितने कल्प अविकल,
सृष्टि के सौंदर्य ने मुझको छला पर
मैं उसी में भूलकर, भूला न निश्छल,
इसलिए फिर कामना के बंध तर लो!

मैं सुखी हूँ क्योंकि मैंने श्रम किया है,
और जीवन को सतत मैंने जिया है,
दुःख ने मुझको दिया है बल निरंतर
सिर झुकाकर प्यास को मैंने पिया है,
चाह हो तो दग्ध करके और छर लो!

पास होतीं टीस, जब पथ लाँघती - हैं,
देह-छूटी साँस सुधियाँ साँधती हैं,
प्यार की यह डोरियाँ कितनी कठिन हैं,
जो कि जड़ को चेतनो से बाँधती हैं,
वेदनाओ! फूल बन-बन कर बिखर लो!

समतलों में डाल कर नदियाँ, जगाया
दाह क्यों ऊँचाइयों का, फिर सताया,
तप्त हो जब मेघ-सा वन मैं उठा तो
क्यों मुझे फिर भूमि पर ही जा गिराया ?
परिचलन में कर दिया मुझको अजर लो !

देह माटी की मुझे दी, किंतु भीतर
क्यों लगा दी आग ऐसा स्नेह भर कर ?
ज्योति पीड़ा क्यों बना दी हाय तुमने ?
काल की दलदल मुझे दी पथ बना कर ?
घर न हो तो लो मुझी में ढूँढ़ घर लो !

जो अदेखे ! प्रीति का सुपना बनाया
और मुझको आप ही अपना गिनाया,
बोल मैं पाया न रह पाया अबोला,
गीत माँगे, अश्रु देकर क्यों भुलाया ?
क्या मुझे दोगे ! मुझी से और वर लो !

आ रहा हूँ अब कि कर लूँ मुग्ध वंदन,
अब न सीमा का रहे कोई नियंत्रण,
पहुँच पाऊँगा तुम्हारे पास या फिर,
मुझे वापिस कर, पुनः दोगे निमंत्रण ?
चूम लो जिसमें जलूँ, निर्द्वन्द्व कर लो,
अछवि कर जिस रूप में चाहे नितर लो !

